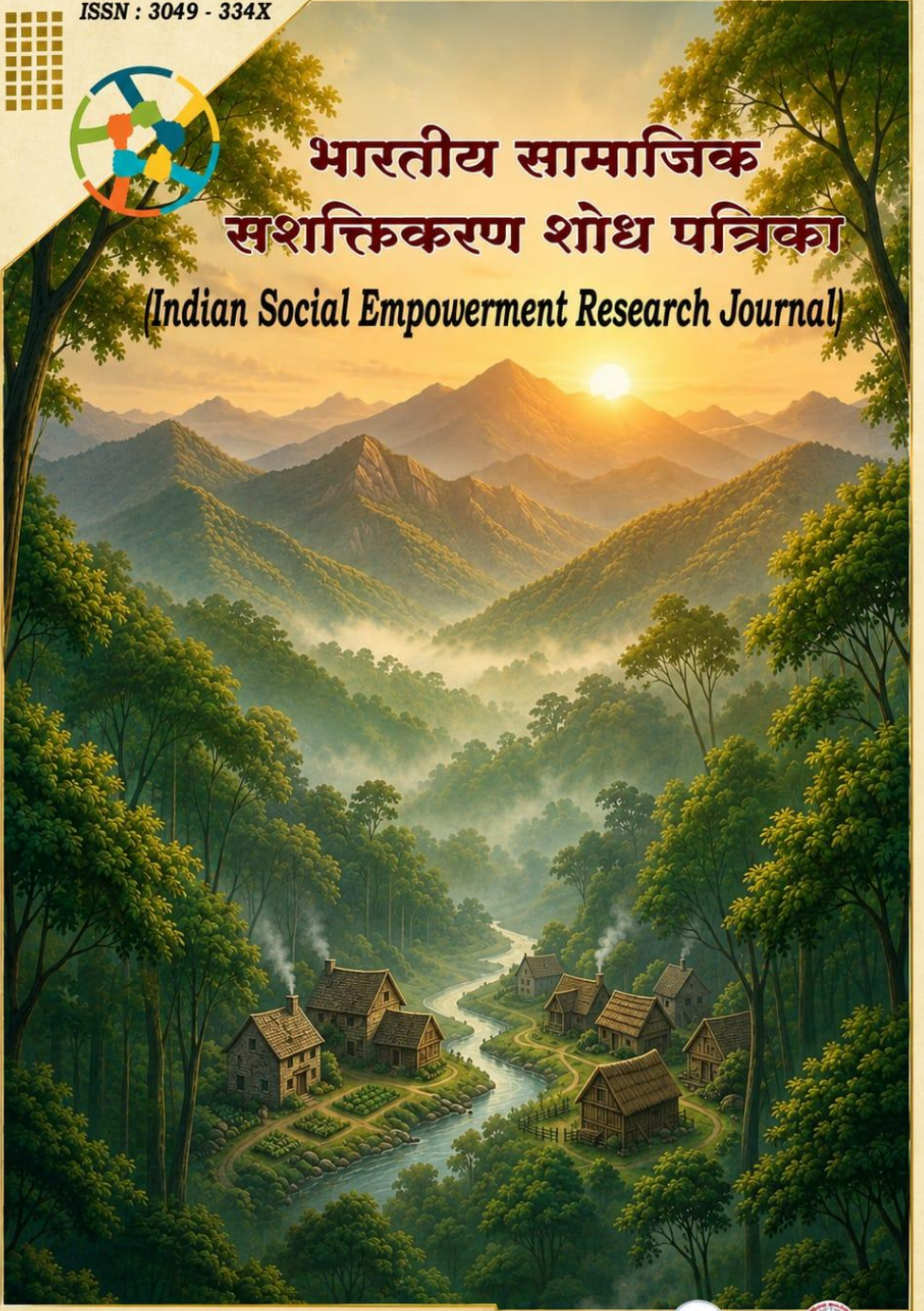




भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका (Indian Social Empowerment Research Journal)



Volume : 03 Issue : 02 - May - August 2026 E - Journal



प्रधान
संपादक

डॉ. प्रेमकुमार नाईक



भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका (Indian Social Empowerment Research Journal)

वर्ष 03, अंक 02
विषय: सामाजिक विज्ञान

मई - अगस्त 2026
ई - पत्रिका

प्रधान संपादक : (Chief Editor)

डॉ. प्रेमकुमार नाईक

अध्यक्ष : सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था वर्धा, महाराष्ट्र

सहायक संपादक (Executive editor)

डॉ. नरेश कुमार गौतम

असिस्टेंट प्रोफेसर, समाज कार्य विभाग

श्री रावतपुरा सरकार विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ़

संपादक मंडल (Editorial Board)

डॉ. अमित राय

एसोसिएट प्रोफेसर, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी
विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. आमोद गूजर

असिस्टेंट प्रोफेसर, मातृ सेवा संघ
सामाज कार्य संस्थान, नागपुर, महाराष्ट्र

डॉ. मिलिंद सवाई

प्राचार्य, डॉ. आंबेडकर कॉलेज
ऑफ सोशल वर्क वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. शम्भू जोशी

एसोसिएट प्रोफेसर, दूर शिक्षा निदेशालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी
विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. विनोद जी. गजघाटे

प्राचार्य, डॉ. आम्बेडकर इंस्टीट्यूट
ऑफ सोशल वर्क नागपूर, महाराष्ट्र

डॉ. चित्रा माली

असिस्टेंट प्रोफेसर, कोलकाता केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र

सहकर्मी समीक्षा समिति और सलाहकार बोर्ड/ समिति (Peer Review Committee And Advisory Board)

प्रो. बंशीधर पाण्डेय

समाज कार्य विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

प्रो. रमेशकुमार एच. मकवाना

समाजशास्त्र विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय,
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात (भारत)

डॉ. सुप्रिया पाठक

एसोसिएट प्रोफेसर, स्त्री अध्ययन विभाग, प्रयागराज केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

डॉ. सरोज कुमार ढल

असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश

डॉ. माधुरी हरिभाऊ झाडे

असिस्टेंट प्रोफेसर, डॉ. आंबेडकर कॉलेज ऑफ
सोशल वर्क वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. हिना एच. खान

असिस्टेंट प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष, PGTD
मनोविज्ञान, (राष्ट्रसन्त तुकडोजी महाराज नागपुर
विश्वविद्यालय) महाराष्ट्र

प्रिंस अजयकुमार टी. अगाशे

पुस्तकालयाध्यक्ष – प्रोफेसर ग्रेड, AL-14
मातृसेवा संघ सामाजिक कार्य संस्थान, नागपुर
(महाराष्ट्र)

प्रो. विवेक कुमार सिंह

सेंटर फॉर सोशल वर्क, प्रो. राजेंद्र सिंह
(रज्जू भैया) विश्वविद्यालय, प्रयागराज उत्तर प्रदेश

प्रो. दीपा मिलिंद बलखंडे

मनोविज्ञान विभागाध्यक्ष,, श्रीमती बिंजानी महिला
महाविद्यालय, नागपुर (राष्ट्रसन्त तुकडोजी महाराज
नागपुर विश्वविद्यालय) महाराष्ट्र

डॉ. मिथिलेश कुमार तिवारी

सहायक प्रोफेसर, समाज कार्य विभाग, प्रयागराज केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

डॉ. गजानन निलामें

असिस्टेंट प्रोफेसर, वर्धा समाज कर्मा संस्थान
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा

डॉ.जोंगदंड शिवाजी रघुनाथराव

असिस्टेंट प्रोफेसर, वर्धा समाज कर्मा संस्थान
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

डॉ. शिरिष मा. सुतार

असिस्टेंट प्रोफेसर, श्री कृष्णदास जाजू ग्रामीण सेवा
महाविद्यालय पिपरी वर्धा (राष्ट्रसन्त तुकडोजी
महाराज नागपुर विश्वविद्यालय) महाराष्ट्र

व्यक्तिगत और संस्थागत सदस्यता

- वार्षिक सदस्यता
(Annual Subscription) Rs. 600
- द्विवार्षिक सदस्यता
(Biennial Subscription) Rs. 1200
- त्रिवर्षीय सदस्यता
(Three Year Subscription) Rs.1800
- पंचवर्षीय सदस्यता
(five year Subscription) Rs. 3000

बैंक खाता विवरण

State Bank of India Wardha
(Maharashtra)
Account Name :
samajik sashakteekaran
sasthan(ngo)
■ **Account No. 41851337167**
IFSC No. SBIN0000500

प्रकाशन



सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था वर्धा, महाराष्ट्र
(कपिल वस्ती, सुतगिरणी ले आउट बरूड वर्धा, महाराष्ट्र)

Social Empowerment Multipurpose Organization Wardha, Maharashtra
(Kapil Vasti, Sutgiri Layout Warud Post Sevagram, Wardha,
Maharashtra Pin-442102)

Home Page : <http://samajiksashakteekaran.org.in>

E-mail : ise.researchjournal@gmail.com

Mobile number : 9130331541, 9021331541

About the Journal:-

<https://samajiksashakteekaran.org.in/abouttheJournal>

Editorial Board :-

<https://samajiksashakteekaran.org.in/editorialboard>

Published issues:-

<https://samajiksashakteekaran.org.in/publishedissues>

Hyperlink:-

<https://samajiksashakteekaran.org.in/hyperlink>

About the Journal

Title	भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका (Indian Social Empowerment Research Journal)
Frequency	Publish Three Issues Per Year
ISSN	3049-334X
Publisher	सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था वर्धा, महाराष्ट्र Social Empowerment Multipurpose Organization Wardha, Maharashtra
Chief Editor	Dr. Premkumar Naik
Copyright	सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था वर्धा, महाराष्ट्र Social Empowerment Multipurpose Organization Wardha, Maharashtra
Staeting Year	2024
Subject	Social Science
Language	Multiple Languages - Hindi, English and Marathi
Publication Format	Online E-Journal
Mobile No.	9130331541, 9021331541
Email Id	ise.researchjournal@gmail.com
Website	http://samajiksashakteekaran.org.in
Journal	About the Journal:- https://samajiksashakteekaran.org.in/abouttheJournal Editorial Board :- https://samajiksashakteekaran.org.in/editorialboard Published issues:- https://samajiksashakteekaran.org.in/publishedissues
Address	Social Empowerment Multipurpose Organization Wardha, Maharashtr Kapil Vasti, Sutgirni Layout Warud Post Sevagram, Wardha, Maharashtra (442102) सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था वर्धा, महाराष्ट्र कपिल वस्ती, सुतगिरणी ले आउट वरूड पोस्ट सेवाग्राम, वर्धा, महाराष्ट्र (442102)

भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका

(Indian Social Empowerment Research Journal)

परिचय

‘भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका’ ऑनलाइन, पीयर-रिव्यूड (सहकर्मी-समीक्षित) एवं रेफर्ड (संदर्भित) बहुभाषिक शोध पत्रिका है, जिसका प्रकाशन हिंदी, अंग्रेजी और मराठी भाषा में किया जाता है। यह सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था, वर्धा, महाराष्ट्र द्वारा वर्ष 2024 से नियमित रूप से प्रकाशित की जा रही है।

पत्रिका का उद्देश्य सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में उत्कृष्ट, नवाचारपरक और समाजोपयोगी शोध को प्रोत्साहित करना है। यह मंच सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, प्रशासनिक तथा सामुदायिक स्वास्थ्य से जुड़े विभिन्न आयामों पर केंद्रित शोध कार्य, आलेखों एवं समीक्षाओं के माध्यम से ज्ञान के प्रचार-प्रसार, विचारों के आदान-प्रदान और सामाजिक जागरूकता को प्रोत्साहित करता है।

हमारी दृष्टि

पत्रिका का मूल उद्देश्य समाज के विविध पक्षों को समझने, विश्लेषित करने और सकारात्मक बदलाव हेतु संवाद की संस्कृति को विकसित करना है। यह प्रयास न्यायसंगत, समावेशी और संवेदनशील समाज की दिशा में एक वैचारिक पहल है, जो ज्ञान के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन और जनजागृति को बढ़ावा देती है।

उद्देश्य

- नवीन शोध कार्य और वैचारिक लेखन को प्रोत्साहन देना।
- शैक्षणिक, सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक विषयों पर संवाद स्थापित करना।
- सामाजिक वैज्ञानिकों, शोधार्थियों, शिक्षकों, नीति-निर्माताओं एवं पाठकों को एक साझा मंच उपलब्ध कराना।
- सिद्धांत और व्यवहार के मध्य सेतु निर्माण कर, समाज में ज्ञान आधारित हस्तक्षेप को संभव बनाना।

पत्रिका में निम्न प्रकार की विषयवस्तु आमंत्रित की जाती है:

- सामाजिक विज्ञान विषयों पर मौलिक शोध-पत्र
- अवधारणात्मक या विश्लेषणात्मक आलेख
- पुस्तक समीक्षाएँ
- नीति एवं कार्यक्रम आधारित समीक्षा लेख
- क्षेत्रीय अध्ययन व केस स्टडी

प्रकाशन नीति

प्राप्त सभी लेखों की पूर्ण रूप से समीक्षा की जाती है। पत्रिका गुणवत्तापूर्ण, प्रासंगिक और शोध की दृष्टि से समृद्ध सामग्री के प्रकाशन हेतु प्रतिबद्ध है।

‘भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण’ पत्रिका का प्रयास है कि समाज के विभिन्न वर्गों, विद्यार्थियों, शोधार्थियों, शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा आम नागरिकों को एक साथ जोड़ते हुए विचार-विमर्श की एक सकारात्मक, ज्ञान-संपन्न और संवेदनशील संस्कृति को विकसित किया जाए, जिससे समाज को नई सोच, नया दृष्टिकोण और नई दिशा प्राप्त हो सके।



संपादकीय

भारतीय समाज एक जटिल और बहुरंगी संरचना है, जो सदियों से अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ बना है। इस समाज के निर्माण में स्त्रियों की चुप्पी और उनके छोटे-छोटे प्रतिरोध, जनजातीय समुदायों की सांस्कृतिक दृढ़ता, वृद्धों के अनुभवों का भंडार, दलितों की बराबरी की आकांक्षा और लोकसंस्कृति के माध्यम से अभिव्यक्त जनचेतना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इतिहास की मुख्यधारा ने इन सभी आवाजों की भूमिका को या तो सीमित किया है या पूरी तरह नज़रअंदाज़ किया है। उपनिवेशकाल में सत्ता के औजारों ने इन स्वरों को दबाया और स्वतंत्रता के बाद भी लोकतांत्रिक संस्थाएं इन समूहों को समाज की मुख्यधारा में बराबरी के साथ शामिल नहीं कर सकीं। इसका परिणाम यह हुआ कि असमानता की खाई और गहरी होती गई, और समाज का नैतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक संतुलन भी डगमगाने लगा।

आज यह ज़रूरी हो गया है कि समाज के विमर्शों में, चाहे वह नीति-निर्माण हो, समाज कार्य हो, साहित्य हो, शिक्षा हो या मीडिया। इन सभी उपेक्षित आवाजों को केंद्र में लाया जाए। स्त्रियों के संघर्षों को महज करुणा के रूप में नहीं, बल्कि परिवर्तन की ताकत के रूप में समझा जाए। जनजातीय जीवन को ‘पिछड़ेपन’ की निगाह से नहीं, बल्कि उनके पारंपरिक ज्ञान, जीवनशैली और पर्यावरण संतुलन की दृष्टि से देखा जाए। वृद्धजनों को समाज का बोझ नहीं, बल्कि अनुभव और मार्गदर्शन का स्रोत माना जाए। दलित और आदिवासी चेतना को केवल आरक्षण के संदर्भ तक सीमित न रखकर, उनके विचार और जीवन-दृष्टि को सामाजिक संवाद का हिस्सा बनाया जाए। लोकसंस्कृति को केवल प्रदर्शन और उत्सव की वस्तु नहीं, बल्कि जनसंघर्ष और सामाजिक चेतना के माध्यम के रूप में स्थापित किया जाए।

समकालीन समय में जब समाज वैश्वीकरण, तकनीकी विकास और उपभोक्तावाद की दौड़ से गुजर रहा है, तो यह और भी ज़रूरी हो गया है कि हम करुणा, मानवीयता और सामाजिक न्याय को पुनः केंद्र में रखें। समाज कार्य को केवल सेवा या कल्याण के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में विकसित किया जाए। साहित्य को केवल सौंदर्यबोध तक सीमित न रखते हुए, समाज की वास्तविकताओं का आईना बनाया जाए। शिक्षा को केवल जानकारी का माध्यम न मानकर, मूल्य आधारित समाज निर्माण का उपकरण समझा जाए।

समाज, संघर्ष और संवेदना: ये तीनों केवल विचार नहीं, बल्कि वे ताकतें हैं जो किसी भी समाज को जीवंत, बराबरी पर आधारित और न्यायपूर्ण बनाती हैं। वर्तमान समय की सबसे बड़ी मांग यह है कि हम

इतिहास की उन धाराओं को मुख्यधारा में स्थान दें जिन्हें अब तक हाशिए पर रखा गया है। यह सिर्फ उपेक्षित अनुभवों को दर्ज करने की बात नहीं है, बल्कि उन्हें दिशा, सम्मान और दायित्व देने की प्रक्रिया है। यही वह आधार है जिस पर एक नया, समावेशी और न्यायपूर्ण भारत खड़ा हो सकता है। जहाँ नीति, विचार, संघर्ष और संवेदना मिलकर एक मानवीय समाज की संरचना करें। मगर यह विडंबना है कि आज राजनीति और कुछ सामाजिक शक्तियां समाज को जोड़ने के बजाय अपने स्वार्थों के लिए उसे बांटने में लगी हैं। इस प्रवृत्ति को बदलना होगा और एक ऐसे समाज की ओर बढ़ना होगा जहाँ हर आवाज़ सुनी जाए, हर अनुभव का सम्मान हो और हर व्यक्ति को बराबरी का हक मिले। भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका



डॉ. नरेश कुमार गौतम

असिस्टेंट प्रोफेसर, समाज कार्य विभाग

श्री रावतपुरा सरकार विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ़

भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका

(Indian Social Empowerment Research Journal)

ISSN: 3049-334X

वर्ष 03, - अंक 02

मई - अगस्त 2026

अनुक्रमणिका

अ.क्र.

पृष्ठ.क्र.

- The Breakdown of Rural Social Systems: Kinship and Institutional Fragmentation among Displaced Tribes in Central India** 1

Dr. Amit Kumar Wadaskar, Dr. Khushboo Sahu

- Digital Safe Havens or New Vulnerabilities: Cyber-Victimization and Alternative Identity Formation among Third Gender Communities** 9

Dr. Khushboo Sahu, Dr. Amit Kumar Wadaskar

- Social Work Interventions with Youth in Contemporary Times: Emerging Challenges and New Practice Approaches** 23

Manas Bajpai

- Menstruation:- Environment And Hygiene Is Important. (The User- Experience- Based Qualitative Exploratory Study Conducted In Chhattisgarh)** 44

Anika Singh

5. **Foundations of Multidimensional Stress: Concepts, Nature, and Major Theories** 54
Swadha Sinha
6. **Privatisation and Its Effects on Tribal Labour: Socio-Economic Challenges at IGNTU, Amarkantak** 74
Ramkrishan Kothare, Dr Manohar Bhimrao Yerkalwar
7. **नागपूर विभागातील ग्रामीण महिलांची उच्च शिक्षणातील स्थिती व आव्हाने** 94
प्रा.परमानंद उके , प्रा.स्वप्नील चव्हाण
8. **ग्रामीण महिलांच्या सामाजिक व आर्थिक सशक्तीकरणामध्ये डिजिटल बँकिंगची भूमिका : एक अभ्यास** 101
प्रा.मनोज बंडू सोंदरकर
9. **अटल बिहारी वाजपेयी का नेतृत्व एवं भारत के राष्ट्र-निर्माण में योगदान** 108
डॉ अंजू चौधरी, लक्ष्मी गोयल
10. **हवामान बदल आणि पर्यावरण संरक्षणात समाज समाजकार्यकर्त्यांची भूमिका** 121
डॉ. मीनाक्षी कुबडे
11. **भाषा की विविधता बनाम समावेशी क्लासरूम टीचिंग: एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य** 127
डॉ पारिजात प्रधान
12. **महिला सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन मेरठ** 137
अनु रानी

13. ग्रामीण महिला सशक्तिकरण में स्वयं सहायता समूह की भूमिका : 148
एक समाजशास्त्रीय अध्ययन
कामिनी सिंह
14. LGBTQ अधिकार और सामाजिक स्वीकृति: भारतीय संदर्भ में एक 155
समीक्षात्मक विश्लेषण
गीतांजलि वर्मा
15. विवाह संस्था का बदलता सामाजिक स्वरूप: Gen Z में Fake 165
Wedding की उभरती प्रवृत्ति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण
डॉ. दीपक कुमार कन्नौजिया
16. नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या 175
व्यक्तिमत्त्व, भावनिक बुद्धिमत्ता व जीवन समाधानाचा तुलनात्मक
अभ्यास
प्रज्ञा मेश्राम, डॉ. प्रा. तीक्षा शामकूल
17. Cultivating Discernment: Yogic Approaches To 184
Responsible Ai
Neha Somani ,Dr. Suman Rawat
-

The Breakdown of Rural Social Systems: Kinship and Institutional Fragmentation among Displaced Tribes in Central India

Dr. Amit Kumar Wadaskar

Guest Lecturer, Government College
Dipka, Korba (C.G.).)

Dr. Khushboo Sahu

Guest Lecturer, Government Naveen
College, Chandrapur, Sakti (C.G.)

Abstract

This paper investigates the severe structural consequences of development-induced displacement (DID) on the traditional rural social systems of indigenous communities in Central India. Focusing on the tribal belts of Madhya Pradesh and Chhattisgarh, the study examines how forced relocation driven by mining and hydroelectric projects fractures kinship networks and dismantles indigenous institutional frameworks. Tribal communities in this region rely heavily on extended kinship ties and localized community councils (like the traditional Panchayats) for economic survival, social cohesion, and dispute resolution. Through an analysis of sociological literature, ethnographic case studies, and demographic data, this paper argues that physical displacement acts as a catalyst for institutional collapse. The transition from communal land ownership to individualized compensation models forces a rapid shift from joint to nuclear families, isolating individuals from traditional safety nets. Furthermore, the authority of traditional village leadership is replaced by bureaucratic state apparatuses, leading to a profound crisis of governance and cultural alienation. The paper concludes that current rehabilitation policies prioritize economic

compensation while entirely ignoring the sociological damage inflicted upon rural institutional structures.

Keywords: Rural Social Systems, Kinship Fragmentation, Central India, Development-Induced Displacement, Tribal Institutions, Social Change, Resettlement.

Introduction

Central India, encompassing the heavily forested and mineral-rich states of Madhya Pradesh, Chhattisgarh, and parts of Jharkhand, is home to a significant proportion of India's indigenous population, including the Gond, Bhil, Baiga, and Oraon tribes. For decades, this region has been the focal point of massive state and private development initiatives, including coal and iron ore mining, steel plants, and large-scale hydroelectric dams. While these projects are framed as necessary for national economic growth, they require the vast acquisition of ancestral lands, resulting in continuous development-induced displacement.

Much of the existing literature on displacement focuses on the immediate economic impoverishment—landlessness and joblessness—faced by these communities. However, the sociological impact of physical uprooting extends far beyond economic metrics. A tribal village is not merely a collection of houses; it is a complex, integrated social system bound by shared territoriality, deep kinship networks, and traditional governance institutions.

This paper analyzes the mechanisms through which displacement dismantles these core sociological structures. It traces the trajectory of institutional breakdown, observing how the forced transition to resettlement colonies or peri-urban slums fractures joint families, dissolves traditional community councils, and alienates displaced populations from their cultural and social roots.

Theoretical Framework

To analyze the breakdown of rural social structures, this research applies a structural-functionalist perspective, drawing upon the works of Indian sociologists

like S.C. Dube and Virginius Xaxa. In traditional rural systems, institutions such as the family, the kinship network, and the village council are highly interdependent. The physical environment (the village land and surrounding forest) acts as the spatial anchor for these institutions.

When displacement removes this spatial anchor, it induces a state of *anomie* (normlessness), as described in classical sociological theory. The sudden shift disrupts the established norms of reciprocity, collective labor, and social control. The Impoverishment Risks and Reconstruction (IRR) model proposed by Michael Cernea specifically identifies "social disarticulation" as a primary risk of displacement. This paper expands on Cernea's concept, applying it to the specific cultural context of Central Indian tribes to demonstrate how social disarticulation manifests as the total fragmentation of kinship and local governance.

The Baseline: Traditional Rural Social Systems in Central India

Before examining the breakdown, it is necessary to establish the structural characteristics of tribal communities in the Central Indian belt prior to relocation.

1. Kinship and the Joint Family

In communities like the Gonds and Bhils, kinship is the primary organizing principle of social life. The traditional structure is predominantly the extended or joint family. Multiple generations live together or in closely clustered compounds. This arrangement is highly functional for an agrarian and forest-based economy.

Collective labor is essential for activities such as shifting cultivation, harvesting, and gathering forest produce. The joint family acts as an internal welfare system, providing care for the elderly, widows, and orphans. Property and resources are often managed communally at the lineage or clan level, rather than by individual households.

2. Traditional Governance and Conflict Resolution

Tribal villages function with a high degree of internal autonomy.

Governance is typically managed by a council of elders or a traditional village headman (often referred to locally as the *Patel*, *Mukhiya*, or *Munda*). These leaders derive their authority from customary law, lineage, and their roles in religious rituals.

The traditional council manages the distribution of communal lands, organizes village festivals, and resolves internal disputes—ranging from property conflicts to marital issues. The justice system is focused on restitution and community harmony rather than punitive measures.

The Catalyst of Disruption: Relocation and State Policy

Displacement violently disrupts this equilibrium. When a project like the Narmada Valley dams or the coal fields of Korba and Singrauli displaces a village, the rehabilitation and resettlement (R&R) process is managed by bureaucratic state agencies.

State policies approach compensation through a strictly individualized, capitalist lens. Land acquisition laws recognize formal, individual title deeds, ignoring the customary, communal land rights that characterize tribal villages. Compensation is awarded to the legally recognized "head of the household," which immediately individualizes wealth that was previously managed collectively.

Furthermore, resettlement policies rarely relocate an entire village as a single unit. Due to variations in compensation, the availability of plots in resettlement sites, and individual family decisions, the original village community is usually scattered across different colonies or urban fringes.

The Fragmentation of Kinship Networks

The most visible sociological impact of displacement is the rapid reorganization of the family structure. The transition from a self-sustaining rural environment to a cash-dependent resettlement colony makes the joint family economically unviable.

1. The Shift to Nuclear Families

In the new environment, households must rely on wage labor rather than communal agriculture. The limited compensation money and the scarcity of housing in resettlement plots force extended families to break apart.

Table 1: Shift in Household Composition Pre- and Post-Displacement

Household Structure	Pre-Displacement (Village Baseline)	Post-Displacement (Resettlement Phase)
Extended / Joint Family	68%	22%
Nuclear Family	28%	71%
Fragmented / Single Member	4%	7%

(Note: Data synthesized from sociological impact assessments of major mining projects in Chhattisgarh and Madhya Pradesh, illustrating the structural collapse of the extended family unit).

This fragmentation has severe consequences. The transition to nuclear families strips individuals of their primary social safety net. Without the extended family to share the burden of child-rearing and domestic work, women are disproportionately burdened. The elderly, previously respected advisors in the joint family, are often viewed as economic liabilities in a cash-starved nuclear household, leading to increased rates of abandonment and neglect.

2. The Breakdown of Reciprocity

Traditional tribal societies rely heavily on reciprocal labor exchange during harvest seasons or house construction. As kinship networks scatter and individuals are forced to compete for scarce daily-wage jobs in the unorganized sector, these networks of mutual aid collapse. Social

relationships become increasingly transactional, driven by the demands of a capitalist wage economy rather than traditional community bonds.

The Collapse of Traditional Governance Institutions

Just as the family fragments, the wider institutional framework of the village council disintegrates upon displacement.

1. Loss of Authority and Territory

The authority of the traditional headman or council is inherently tied to the village territory and the management of common resources. Once the land is acquired and the village is geographically dissolved, the traditional leaders lose their structural function. They have no communal land to manage and no harvest festivals to preside over. In resettlement colonies, which are often governed by municipal authorities or project administrators, the traditional leadership is rendered obsolete.

2. Shift in Dispute Resolution

Without the traditional council, displaced communities are forced to rely on formal state mechanisms, such as the police and the formal judiciary.

Table 2: Shifting Mechanisms of Dispute Resolution in Displaced Communities

Dispute Resolution Mechanism	Pre-Displacement Utilization	Post-Displacement Utilization
Traditional Village Council	85%	15%
Formal Police Intervention	10%	65%
State Judicial Courts	5%	20%

(Note: Reflects the marginalization of indigenous governance structures as displaced populations are absorbed into peri-urban legal frameworks).

State mechanisms are frequently alien, expensive, and intimidating for displaced tribal populations. Formal courts operate in languages and procedural frameworks completely disconnected from customary tribal law. This transition leaves the community vulnerable and often results in conflicts escalating into violence, as the localized, culturally appropriate methods of maintaining social harmony are no longer available.

Cultural Alienation and the Crisis of Identity

Institutions and kinship networks are the primary vehicles for cultural transmission. The breakdown of these systems leads directly to cultural alienation.

Central Indian tribes have rich traditions organized around the agricultural cycle and the local ecology. Festivals marking the sowing of seeds, the harvesting of crops, and the worship of local forest deities require the participation of the entire lineage and village.

In resettlement colonies, the physical space required for these communal rituals is absent. The sacred groves (Devgudi or Sarna) are destroyed during land acquisition. Consequently, the cultural practices that bind the community together begin to fade. The younger generation, growing up in fragmented nuclear families in semi-urban environments, loses connection to their indigenous language, folklore, and identity. This creates a deep intergenerational divide, where older members of the community experience a profound sense of loss and anomie, while the youth are poorly assimilated into the lowest rungs of mainstream society.

Conclusion

The displacement of tribal communities in Central India is an ongoing sociological crisis that extends far beyond the loss of physical property. It constitutes the systematic dismantling of rural social systems. The forced transition from communal, land-based economies to individualized wage labor acts as a direct catalyst for the fragmentation of extended kinship networks and the collapse of traditional governance institutions.

As joint families break into isolated nuclear units, the social safety nets that have historically protected the vulnerable—women, children, and the elderly—are destroyed. Simultaneously, the imposition of bureaucratic state structures renders traditional community councils obsolete, leaving displaced populations without accessible or culturally resonant mechanisms for conflict resolution.

Current rehabilitation policies are fundamentally flawed because they address displacement as a purely economic transaction, compensating individuals for lost physical assets while completely ignoring the destruction of the social fabric. For rehabilitation to be genuinely effective, state policies must recognize the sociological reality of tribal life. Resettlement planning must shift its focus from individual cash compensation to the preservation of community integrity, ensuring that villages can relocate as cohesive units, thereby protecting the kinship networks and institutions that are essential for their social and cultural survival.

References

1. Baviskar, A. (1995). *In the Belly of the River: Tribal Conflicts over Development in the Narmada Valley*. Oxford University Press.
2. Cernea, M. M. (1997). The Risks and Reconstruction Model for Resettling Displaced Populations. *World Development*, 25(10), 1569-1587.
3. Dube, S. C. (1955). *Indian Village*. Routledge & Kegan Paul.
4. Fernandes, W. (2008). Sixty Years of Development-Induced Displacement in India: Scale, Impacts and the Search for Alternatives. *Social Change*, 38(1), 89-122.
5. Mathur, H. M. (Ed.). (2006). *Managing Resettlement in India: Approaches, Issues, Experiences*. Oxford University Press.
6. Padel, F., & Das, S. (2010). *Out of This Earth: East India Adivasis and the Aluminium Cartel*. Orient BlackSwan.
7. Sundar, N. (2007). *Subalterns and Sovereigns: An Anthropological History of Bastar*. Oxford University Press.
8. Xaxa, V. (2008). *State, Society, and Tribes: Issues in Post-Colonial India*. Pearson Education India.

Digital Safe Havens or New Vulnerabilities: Cyber-Victimization and Alternative Identity Formation among Third Gender Communities

Dr. Amit Kumar Wadaskar

Guest Lecturer, Government College
Dipka, Korba (C.G.)

Dr. Khushboo Sahu

Guest Lecturer, Government Naveen
College, Chandrapur, Sakti (C.G.)

Abstract

The rapid proliferation of digital infrastructure has fundamentally reorganized human interaction, presenting unprecedented opportunities and risks for marginalized populations. For Third Gender communities in India—historically subjected to extreme spatial segregation and the fragmentation of rural kinship networks—the internet offers a frontier for alternative identity formation. This comprehensive paper explores the dual nature of cyberspace as both a sanctuary and a site of amplified systemic violence. Utilizing a sociological framework that intersects digital sociology, queer theory, and spatial marginalization, this research examines how digital platforms enable Third Gender individuals, particularly those isolated in rural or conservative agrarian environments, to build community, access peer support, and construct affirming identities outside physical patriarchal surveillance.

However, this digital migration is heavily shadowed by unique, technologically accelerated typologies of cyber-victimization. In the contemporary digital ecosystem, digital deception, non-consensual image sharing, algorithmic bias, and targeted cyber-harassment disproportionately impact these communities, often with devastating real-world socio-economic consequences. By analyzing the

structural void in current cyber-legislation and the limitations in enforcing the Transgender Persons (Protection of Rights) Act, 2019 within digital architectures, this paper argues that while the internet bypasses traditional geographic limitations, it frequently reproduces and even magnifies existing social prejudices. Consequently, digital safe havens are transformed into new, largely unregulated vulnerabilities, requiring an urgent paradigm shift in both sociological understanding and legal safeguarding.

Keywords: Third Gender, Digital Sociology, Cyber-Victimization, Identity Formation, Cybercrime, Digital Affirmation, Transgender Rights, Rural Sociology, Networked Publics.

Introduction:

The Sociological Shift from Physical to Digital Margins

The transition from a physical agrarian society to a deeply digitized information economy has initiated profound shifts in the Indian sociological landscape. Over the past decade, the democratization of internet access—driven by affordable smartphones and ubiquitous cellular data—has created new public squares that operate entirely outside the traditional spatial boundaries of the village or the metropolitan city. For the Third Gender (an umbrella term encompassing Hijra, Kinnar, Aravani, and other transgender and gender-diverse communities), this technological shift is not merely a matter of convenience; it represents a fundamental alteration in the mechanisms of social survival.

Historically, the physical existence of non-conforming gender identities in India has been strictly policed. In rural and semi-urban environments, the dominant social institutions—namely the joint family and the caste-based village council—operate on rigid heteronormative binaries. Individuals who diverge from these expectations face severe institutional fragmentation. The discovery of a divergent gender identity often results in the complete severing of rural kinship ties, loss of inheritance, and forced migration to urban centers where Third Gender communities have traditionally clustered for collective security.

Cyberspace disrupts this deeply entrenched traditional trajectory. The internet allows individuals to anonymously explore their identities, access vital information regarding transition, and build networks of solidarity without immediately risking the physical violence associated with coming out in conservative settings. It offers a "disembodied" space where the rigid physical markers of sex and caste can be temporarily suspended.

Yet, this digital integration is profoundly complex and inherently paradoxical. Cyberspace is not a neutral vacuum. It is engineered by and embedded within the exact same societal frameworks that marginalize the Third Gender in the physical world. This paper investigates the sociological paradox of the internet for Third Gender individuals. It traces the mechanisms of alternative identity formation facilitated by digital platforms, while simultaneously unmasking the severe, unregulated matrix of cyber-victimization that these communities navigate daily.

Theoretical Framework: Stigma, Networked Publics, and the VirtuReal

To deconstruct this phenomenon comprehensively, this research utilizes a tri-fold theoretical framework, synthesizing classical sociology with modern digital theory.

1. Goffman's Theory of Stigma and Impression Management

Erving Goffman's foundational theories of *Stigma* and *Impression Management* remain highly relevant. In the physical world, Goffman argued that marginalized individuals are constantly engaged in managing "spoiled identities" to navigate hostile social spaces. The rural social system, characterized by high visibility, communal living, and rigid kinship surveillance, makes impression management nearly impossible for Third Gender individuals. The physical body becomes a site of intense public scrutiny, inevitably leading to social expulsion.

2. Boyd's Concept of Networked Publics

Digital sociologist danah boyd introduced the concept of "networked publics"—spaces constructed through networked technologies and the

imagined collective that emerges as a result of the intersection of people, technology, and practice. Networked publics are characterized by persistence, visibility, spread ability, and search ability. For a Third Gender individual, networked publics offer a space to find others like themselves, but they also introduce the danger of "collapsed contexts," where distinct social circles (e.g., conservative rural family members and urban queer peers) suddenly collide in the same digital space, causing immense psychological strain.

3. The "VirtuReal" Ecosystem

Building upon these concepts, sociologists like Avi Marciano discuss the "VirtuReal" negotiation of transgender identity. The boundary between the virtual and the real is highly porous. A digital identity is not a separate fantasy; it has visceral, real-world consequences. The emotional validation received in a hidden Facebook group is just as real as the trauma inflicted by a leaked photograph on WhatsApp. Understanding the VirtuReal continuum is essential to analyzing how digital safe havens rapidly collapse into sites of vulnerability.

Historical Context: The Necessity of a Digital Escape

To understand why the internet is so critical to Third Gender communities, one must examine the historical context of their physical marginalization.

In pre-colonial and early post-colonial India, communities like the Hijras held specific, albeit marginalized, socio-religious roles. They were institutionalized as bestowers of blessings at births and marriages (the *Badhai* system). However, colonial-era legislation (such as the Criminal Tribes Act of 1871) fundamentally criminalized their existence, pushing them into the informal economy of begging and sex work.

In contemporary rural India, these traditional socio-religious roles have largely eroded, replaced by a modern capitalist economy that has no structural space for gender non-conformity. The rural joint family—an institution designed to

consolidate land and resources through patriarchal lineage—views a Third Gender child as an economic liability and a source of intense social shame. Consequently, the physical environment offers no sanctuary. Segregation is absolute. Against this backdrop of absolute physical exclusion, the internet emerges not as a luxury, but as the only available frontier for social reproduction and identity validation.

4. The Digital Sanctuary: Mechanisms of Alternative Identity Formation

The internet serves as a critical infrastructural tool for social survival, particularly for individuals geographically isolated from established urban Kinnar or Hijra networks. Recent sociological studies emphasize that social media, forums, and encrypted messaging apps have emerged as the primary sites for transgender identity development in the 21st century.

1. Bypassing Geographic and Social Isolation

Before the advent of cheap mobile internet, a Third Gender youth in a rural district had virtually no access to positive representations of their identity. Their only cultural referents were often caricatured depictions in mainstream media or local stigmatized encounters. Digital platforms bypass this geographic isolation entirely. They allow isolated individuals to access a globalized vocabulary of gender identity. They learn terms, medical realities, and legal rights that are actively suppressed in their physical environment.

This digital integration functions as a crucial precursor to physical migration. Decades ago, migrating to an urban center meant arriving blind, highly vulnerable to exploitation by predatory brokers. Today, youth can establish digital connections, secure peer-to-peer housing advice, and integrate into supportive community networks prior to ever leaving their rural homes, significantly mitigating the risks of physical transition.

Table 1: Digital Access and Utilization Patterns by Geographic Location

Geographic Origin	Primary Digital Platform Usage	Degree of Desired Anonymity	Core Purpose of Digital Engagement
Rural / Semi-Rural	Anonymous forums, Encrypted messaging (WhatsApp, Telegram)	Extremely High (Fear of local physical retaliation)	Information seeking, psychological survival, peer-to-peer housing advice prior to migration.
Urban / Peri-Urban	Public Social Media (Instagram, Facebook), Dating Apps	Moderate to Low (Often integrated into local Kinnar networks)	Economic survival/income generation, public advocacy, open socialization.

1. Curated Visibility and the Disembodied Self

Social media architecture allows for "curated visibility." A user can maintain a conventional, gender-conforming profile for their biological family while simultaneously cultivating an anonymous, gender-affirming profile within secure digital enclaves. This dual-existence acts as a crucial psychological pressure valve. It provides a space to test new pronouns, share transition milestones, and experiment with gender presentation without the immediate threat of physical violence.

2. The Formation of Digital Kinship

As biological rural kinship networks fragment upon the disclosure of a Third Gender identity, digital spaces facilitate the creation of "chosen families." These networks are built on shared experiences of marginalization rather than bloodlines. Within encrypted WhatsApp groups and private Facebook communities, elders in the community guide younger individuals through the complexities of hormone replacement therapy, legal name changes, and navigating employment discrimination.

This digital kinship organically replaces the traditional support structures that biological families actively deny them.

The Matrix of Cyber-Victimization

If the internet is a sanctuary, it is one built with glass walls and lacking active policing. The very anonymity that protects the marginalized user also emboldens the abuser. Cyber-victimization against the Third Gender is not merely a digital translation of physical bullying; it possesses unique, technologically accelerated typologies that exploit their specific societal vulnerabilities.

Table 2: Typologies and Sociological Impacts of Cyber-Victimization

Typology of Cyber-Abuse	Mechanism of Action	Immediate Psychological Impact	Long-Term Socio-Economic Consequence
Digital Deception (Catfishing) & Extortion	Fabricating supportive profiles to gain trust, followed by blackmail using shared intimate data.	Extreme breach of trust, acute anxiety, isolation.	Financial ruin, forced involuntary coming out to hostile employers/family.
Non-Consensual Image Sharing & Deadnaming	Distributing pre-transition photos or private images; weaponizing the individual's birth name publicly.	Severe gender dysphoria, humiliation, suicidal ideation.	Permanent digital stigma, inability to secure formal employment due to compromised digital footprint.
Organized Brigading	Coordinated mass-reporting by hate groups to trigger automated bans on Third Gender accounts.	Feelings of erasure and powerlessness against algorithmic structures.	Loss of digital community, silencing of advocacy, destruction of digital livelihood channels.

1. Digital Deception, Catfishing, and Extortion

Cybercrime targeting this demographic frequently weaponizes their profound social isolation. Digital deception—commonly known as catfishing—is rampant. Predators create fabricated profiles, often posing as supportive allies or romantic interests, to initiate relationships with vulnerable Third Gender individuals. Because these individuals are often starved for affection and validation, they are highly susceptible to such manipulation.

Once trust is established and intimate information or images are shared, the predator pivots to extortion. The threat is almost always the same: exposing the individual's gender identity or private images to their conservative families, employers, or rural village networks. Because victims are deeply afraid of being "outed," they frequently comply with financial demands. This makes the Third Gender community a highly lucrative, low-risk target for organized cybercriminals.

2. Non-Consensual Image Sharing and the Weaponization of Memory

Transgender and gender-diverse individuals face disproportionate risks regarding non-consensual image sharing. In digital spaces, cyber-harassers frequently engage in "deadnaming" (using an individual's pre-transition name) and distributing pre-transition photographs. The internet functions as an unforgiving archive. The weaponization of this digital memory serves to constantly invalidate the individual's current identity, anchoring them to a past they have fought to escape. Clinical sociological studies indicate that exposure to such cyber-harassment is directly linked to acute gender minority stress, clinical depression, and tragically high rates of self-harm.

3. Organized Brigading and Digital Erasure

Beyond individual harassment, digital spaces have increasingly become sites for organized hate speech. "Brigading"—where coordinated groups of trolls mass-report a Third Gender user's account to trigger automated platform bans—is a common tactic. Content moderation algorithms, frequently trained on majoritarian linguistic models, often fail to distinguish between individuals

reclaiming their identity and actual hate speech. Consequently, Third Gender users frequently face "shadowbanning" or account suspensions. This systematic digital erasure destroys the communities they have meticulously built, silencing their voices in the modern public square.

The Post-Truth Ecosystem and Algorithmic Marginalization

The contemporary landscape of the internet is defined by the "post-truth" era—a period where objective facts are less influential in shaping public opinion than appeals to emotion, bias, and personal belief. This epistemological shift has severe, physical consequences for the Third Gender.

1. Viral Misinformation and Moral Panics

Digital platforms, particularly encrypted messaging services like WhatsApp, have become breeding grounds for organized campaigns of misinformation. Sensationalized, entirely fabricated narratives about Third Gender communities—often accusing them of child abduction, witchcraft, or predatory behavior—are rapidly disseminated across rural and urban networks alike.

In the post-truth ecosystem, these falsehoods travel faster than retractions. By the time a rumor is debunked, a moral panic has already been incited. This digital polarization directly translates into physical hostility. It reduces the community's access to housing, forces them out of informal employment sectors, and frequently culminates in mob violence against Kinnar communities, demonstrating the lethal bleed-over from the virtual to the real world.

2. The Coding of the Gender Binary

Furthermore, the foundational architecture of the internet is inherently biased. As researchers note, the algorithms and databases that govern social media visibility, targeted advertising, and institutional forms are overwhelmingly coded to recognize only a strict gender binary. When a

Third Gender individual interacts with state portals, banking applications, or social media algorithms, their existence frequently triggers system errors or forces them to misgender themselves to proceed. This infrastructural exclusion reinforces the societal message that they are anomalies, embedding transphobia into the very code of the digital world.

Socio-Legal Voids and Institutional Failures

The sociological tragedy of cyber-victimization is compounded by a near-total collapse of institutional protection in digital spaces. While India has made historic strides in legal recognition—most notably the landmark NALSA judgment (2014) recognizing the "third gender" and the subsequent passage of the Transgender Persons (Protection of Rights) Act, 2019—these frameworks frequently struggle to address complex digital realities.

Table 3: Institutional Disparities: Physical vs. Digital Legal Frameworks

Legal / Institutional Domain	Protections in Physical Spaces	Vulnerabilities in Digital Spaces (The Legal Void)
Anti-Discrimination (Transgender Persons Act, 2019)	Explicitly prohibits discrimination in employment, healthcare, and education.	Act lacks clear applicability to algorithmic bias, digital service denial, or platform moderation policies.
Harassment & Defamation	Physical stalking and verbal abuse are covered under the BNS/IPC and specific Transgender protection clauses.	Information Technology (IT) Act lacks specific provisions for deadnaming, targeted gender-based digital extortion, or brigading.
Law Enforcement Response	Increasing (though flawed) presence of sensitized desks or specialized community liaison officers in physical precincts.	Cyber-cells often lack specific sensitization protocols for Third Gender victims, leading to secondary victimization and high rates of unfiled FIRs.

1. Legislative Gaps in Cyberspace

The Transgender Persons Act of 2019 comprehensively prohibits discrimination across institutional spaces such as education, healthcare, and employment. However, the act primarily addresses physical and structural rights. Translating these protections into the digital realm remains profoundly challenging. Existing cyber laws, such as the Information Technology Act, 2000, and the newly implemented Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023, lack specific, nuanced provisions that directly address transgender-targeted hate speech, deadnaming, or the unique extortion dynamics faced by closeted individuals.

2. Law Enforcement and Secondary Victimization

When victims attempt to report cybercrimes, they frequently face secondary victimization at the hands of traditional law enforcement. Police institutions in rural and peri-urban areas remain heavily influenced by patriarchal and transphobic biases. Victims regularly report facing ridicule regarding their gender presentation, victim-blaming, and a flat refusal by authorities to register First Information Reports (FIRs). The lack of transgender-sensitive cyber governance means that the state apparatus, designed to protect citizens, often becomes an additional source of trauma.

3. Platform Accountability Deficits

Social media corporations operate with weak institutional accountability regarding marginalized genders in the Global South. Content moderation policies are heavily Western-centric and fail to contextualize local slurs, caste-based transgender discrimination, or the specific socio-religious stigmatization faced by the Hijra and Kinnar communities in India. Consequently, anonymous online abuse remains largely unregulated, and reporting mechanisms are chronically ineffective.

Policy Recommendations for a Safe Digital Ecosystem

Addressing the digital vulnerabilities of the Third Gender requires a multifaceted approach that bridges sociology, law, and technology.

1. **Nuanced Cyber-Legislation:** The IT Act and related cyber-laws must be amended to explicitly recognize gender identity as a protected category against hate speech, doxxing, and digital extortion. Legal definitions of non-consensual image sharing must be expanded to include the weaponized distribution of pre-transition imagery.
2. **Sensitization of Law Enforcement:** Mandatory, recurring sensitization programs regarding the Transgender Persons Act and LGBTQIA+ issues must be implemented for cyber-crime cells and local police stations, particularly in rural jurisdictions where biases are most entrenched.
3. **Algorithmic Accountability:** Social media platforms must be legally compelled to localize their content moderation algorithms, training AI models to recognize regional transphobic slurs and the organized brigading tactics used against Indian Third Gender communities.
4. **Digital Literacy Interventions:** State-sponsored rehabilitation programs must integrate advanced digital literacy into their curriculum. Empowering Third Gender youth with the skills to secure their digital footprints, preserve evidence of cybercrime, and utilize digital privacy tools is as essential as providing physical vocational training.

Conclusion

The digital landscape represents a profound sociological paradox for Third Gender communities in India. Cyberspace serves as a revolutionary mechanism for survival, providing a digital safe haven that deliberately bypasses the rigid, exclusionary institutions of rural agrarian social systems. It empowers geographically isolated, marginalized youth to form alternative identities, access life-saving peer support, and construct expansive networks of solidarity long before they possess the resources to undertake physical migration.

However, in the absence of robust, inclusive digital regulation, these communities are exposed to devastating new frontiers of vulnerability. Cyber-victimization—ranging from targeted digital extortion and non-consensual image sharing to organized, algorithmic hate speech in the post-truth era—inflicts severe psychological and socioeconomic damage. The trauma experienced online does not remain online; it dictates physical safety, mental health, and economic stability.

If the constitutional guarantees of equality and dignity, promised by the NALSA judgment, are to be genuinely realized in the 21st century, there must be a massive paradigm shift in both digital sociology and state legal frameworks. Policymakers must move beyond the purely physical interpretation of transgender rights to create specific, enforceable protections against digital discrimination. Until cyberspace is governed by architectures and laws that actively dismantle systemic prejudice rather than passively hosting and amplifying it, the internet will remain a deeply fractured sanctuary—offering the brilliant promise of community while simultaneously delivering the trauma of hyper-visible victimization.

References

1. **Bivens, R. (2017).** The gender binary will not be deprogrammed: Ten years of coding gender on Facebook. *New Media & Society*, 19(6), 880-898.
2. **boyd, d. (2014).** *It's Complicated: The Social Lives of Networked Teens*. Yale University Press.
3. **Cavalcante, A. (2018).** *Struggling for Ordinary: Media and Transgender Belonging in Everyday Life*. NYU Press.
4. **Dutta, A., & Roy, R. (2014).** Decolonizing Transgender in India: Some Reflections. *Transgender Studies Quarterly*, 1(3), 320-337.
5. **Goffman, E. (1963).** *Stigma: Notes on the Management of Spoiled Identity*. Prentice-Hall.
6. **Lupton, D. (2014).** *Digital Sociology*. Routledge.
7. **Marciano, A. (2014).** Living the VirtuReal: Negotiating Transgender Identity in Cyberspace. *Journal of Computer-Mediated Communication*, 19(4), 824-838.
8. **Nanda, S. (1990).** *Neither Man nor Woman: The Hijras of India*. Wadsworth Publishing Company.

9. **Sawhney, N. (2022).** 'Transgender Persons (Protection of Rights) Act' of India: An Analysis of Substantive Access to Rights of a Transgender Community. *National Library of Medicine (PMC)*.
10. **Taylor, J. et al. (2023).** The Effects of Cyberbullying and Non-consensual Sexting on Gender Minority Stress and Psychological Functioning in Transgender Adults. *Journal of Homosexuality (Taylor & Francis)*.

Social Work Interventions with Youth in Contemporary Times: Emerging Challenges and New Practice Approaches

Manas Bajpai

Research Scholar, Department of Social Work, University
of Lucknow, Lucknow

Abstract:

Youth constitute one of the important social and demographic group as well as resource of the society, but contemporary transitions to adulthood are increasingly shaped by interconnected economies, technological advancement, psychological, social or psychosocial challenges. Unemployment and insecurity of work, gaps in education and skill, mental-health problems and concerns, social isolation, homelessness, digital risks, changing family relationships, substance use, violence, discrimination and limited participation in community decision-making have expanded the scope of social work with young people. In India, these challenges needs special attention because the age group of 15-29 year represents a significant proportion of the population and includes young people with highly diverse social and economic circumstances. The present paper adopts a narrative review approach to examine emerging challenges faced by youth and critically discuss changing approaches to social work intervention. Literature on youth development, social group work, youth social action, homelessness, psychological well-being, digital citizenship, trauma-informed practice, skill development and youth participation was reviewed. The analysis indicates that conventional problem-oriented and remedial approaches are insufficient for contemporary

youth. Effective practice increasingly requires strengths-based, rights-based, trauma-informed, digitally responsive, participatory, community-based and interdisciplinary interventions. Peer support, social group work, mentoring, digital social work, youth-led social action, livelihood and career interventions, family interventions, community engagement and early mental-health support are emerging as important approaches. The paper proposes an integrated framework in which social workers function not only as service providers but also as facilitators, advocates, educators, community mobilizers and partners in youth-led change. Strengthening evidence-based practice, youth participation, digital competencies, intersectoral coordination and outcome evaluation can improve the relevance and effectiveness of social work interventions in contemporary settings.

Keywords: *Youth, Social Work Intervention, Youth Development, Digital Social Work, Mental Health, Trauma-informed Practice, Social Group Work, Youth Participation, Social Action, India.*

Introduction

Youth is a critical stage of human development involving educational transition, identity formation, employment, changing family relationships, increasing independence and participation in society. Contemporary youth, however, experience these transitions within a rapidly changing social environment. Digital technologies have transformed communication, learning, employment, relationships and civic participation, while economic uncertainty, social inequality, climate-related concerns, migration, violence and changing patterns of family and community life have created new forms of vulnerability.

The challenges facing young people are therefore no longer confined to traditional concerns such as unemployment, poverty, delinquency or educational discontinuation. Mental-health difficulties, social-media pressures, cyberbullying, online exploitation, digital exclusion, social isolation, precarious employment and uncertainty about the future increasingly intersect with conventional social problems. WHO currently estimates that approximately one in seven adolescents

aged 10-19 experiences a mental-health condition, while UNICEF has emphasized that mental health is strongly influenced by conditions in the family, school and community.

Economic transitions are equally important. The International Labour Organization reported that 20% of young people globally were not in employment, education or training (NEET) in 2023, with young women experiencing particularly high levels of exclusion. The report also highlights insecurity, skills mismatch and anxiety about employment as continuing concerns.

In India, the scale and diversity of the youth population make youth development an important social-policy concern. India's draft National Youth Policy defines youth as persons aged 15-29 years and estimates approximately 37.14 crore people in this age group based on projected 2021 figures, representing about 27.3% of the population. The policy also identifies education, healthcare, livelihood and skills as important areas requiring stronger access and support.

These developments require social work to move beyond a narrow remedial model. Youth should not be viewed merely as recipients of welfare services or as a population "at risk". They are also rights-holders, community members, innovators, volunteers and potential agents of social change. Contemporary social work therefore needs to combine protection with empowerment, individual support with structural intervention, and professional expertise with meaningful youth participation.

Objectives of the Paper

The paper aims to:

1. Examine the major social, economic, psychological and digital challenges confronting youth in contemporary times.
2. Review existing and emerging approaches to social work intervention with young people.
3. Examine the relevance of social group work, community work, digital practice, trauma-informed practice and youth social action.

4. Identify limitations in conventional youth interventions.
5. Propose an integrated framework for contemporary youth social work practice, particularly in the Indian context.

Methodology

The paper follows a **narrative review and conceptual analysis** approach. Relevant literature was identified from the references supplied for the paper and supplemented with recent scholarly literature and authoritative sources from organizations including the World Health Organization, UNICEF, International Labour Organization and Government of India.

Priority was given to literature addressing youth development, social work interventions, youth participation, homelessness, mental health, digital citizenship, social action, trauma-informed practice, skill development and community engagement. Recent publications, particularly those from 2024–2026, were considered to capture emerging practice directions.

The review did not involve primary data collection and therefore does not make claims about prevalence or intervention effectiveness from an original sample. Instead, findings from existing studies are synthesized thematically to develop a practice-oriented conceptual understanding.

Youth in Contemporary Times: Changing Contexts and Emerging Challenges

The changing context and emerging challenges for youth in contemporary times can be understood by the discussion below through different area of youth intervention.

1. Mental health and psychosocial well-being

Mental health has become one of the most significant areas of concern in youth work. Academic competition, employment uncertainty, family conflict, social comparison, loneliness, relationship difficulties and digital pressures can interact to increase psychological distress. WHO identifies depression, anxiety and behavioural disorders among important causes of illness and disability during adolescence.

UNICEF similarly emphasizes that adolescent mental health cannot be separated from social determinants. Family relationships, schools, peer networks, community environments and experiences of violence or exclusion can either increase risk or provide protection.

For social workers, this means that mental-health intervention should not be restricted to crisis management. Prevention, psychosocial education, peer support, family strengthening, school-based intervention, referral systems and community-based mental-health promotion are equally important.

2. Unemployment, NEET status and livelihood insecurity

The transition from education to employment is increasingly uncertain. Youth may possess educational qualifications without corresponding employment opportunities, while technological change continuously alters occupational requirements. The ILO reports that approximately one-fifth of young people globally were NEET in 2023, and young women are disproportionately represented among NEET populations.

In India, these concerns intersect with rural–urban inequalities, gender disparities, limited access to quality training, informal employment and socioeconomic disadvantage. Moorthy and Jeyadevi's work on government schemes and skill development highlights the importance of awareness and access to development programmes.

Social workers can contribute through career counselling, skill-development linkage, employability training, entrepreneurship support, government-scheme facilitation, workplace readiness and advocacy for decent employment.

3. Digital life and changing social relationships

Digital technologies are now deeply embedded in youth life. Social media can provide opportunities for learning, self-expression, networking, social support, political participation and community mobilization. At the same time, excessive or problematic digital engagement can expose young people

to cyberbullying, misinformation, online exploitation, hate speech, social comparison and privacy risks.

Harris and Johns argue that youth social cohesion should be examined together with digital life rather than treating "offline" and digital risks as separate domains. They propose a global digital citizenship perspective that recognizes young people as active participants in digital societies.

Consequently, social workers require digital competencies that include online counselling, digital safeguarding, media literacy, cyber-risk identification and responsible digital communication.

4. Homelessness, housing instability and social exclusion

Youth homelessness illustrates the interconnected nature of contemporary social problems. Housing insecurity is frequently associated with employment difficulties, family conflict, trauma, mental-health concerns and limited social support.

Kidd et al. examined the transition of recently homeless youth toward stability and found that recovery was not linear. Young people experienced setbacks, systemic barriers and periods of instability, while supportive housing arrangements were associated with better mental-health and community-integration outcomes.

This evidence suggests that social work intervention should not stop once emergency accommodation is obtained. Sustained intervention should address housing, relationships, education, employment, mental health, community integration and long-term goals.

5. Social inequality, discrimination and exclusion

Youth do not experience social problems equally. Gender, socioeconomic status, disability, caste, ethnicity, migration, geography, educational opportunity and family circumstances can influence access to resources and participation.

Atieh et al. (2025) found that social factors and obstacles influence young people's participation in sustainable development. Their study emphasizes the importance of social recognition, opportunities for participation and removal of barriers to youth engagement.

Social workers therefore need to examine both individual circumstances and structural conditions that reproduce exclusion.

6. Violence, trauma and adversity

Many young people encounter domestic violence, abuse, bullying, community violence, displacement, loss, exploitation or other adverse experiences. Such experiences can influence emotional regulation, relationships, educational participation and social functioning.

Recent social-work scholarship has reinforced the importance of trauma-informed practice with children, youth and families. Powell and Gates describe trauma work as a fundamental component of contemporary social work, particularly because trauma can have enduring consequences and requires responses across health, mental-health, educational and child-protection systems.

Trauma-informed practice should therefore emphasize safety, trust, choice, collaboration, empowerment and avoidance of practices that unnecessarily reproduce feelings of powerlessness.

From Traditional Youth Work to Contemporary Social Work Intervention

Traditional youth work has frequently focused on correcting individual problems.

Such approaches remain necessary in situations involving protection, crisis or severe vulnerability, but they are insufficient as a comprehensive response.

Small and Memmo (2004) emphasized the importance of integrating contemporary youth-development and problem-prevention models rather than treating them as disconnected approaches. Similarly, Mishra's discussion of youth work in India highlights the need to consider youth development as a broader social-development process.

The contemporary approach should therefore shift:

Traditional orientation	Contemporary orientation
Problem-focused	Strengths and capability-focused
Youth as service recipients	Youth as partners and co-creators
Individual case intervention	Individual, group, family and community intervention
Crisis response	Prevention, early intervention and long-term support
Offline practice	Integrated online and offline practice
Professional-led decisions	Participatory decision-making
Short-term outcomes	Sustainable developmental outcomes
Service delivery	Empowerment, advocacy and social change
Single-agency approach	Interdisciplinary and multisectoral collaboration

This shift does not mean abandoning casework or therapeutic intervention. Rather, it means integrating them within a broader ecological and developmental framework.

Emerging Social Work Interventions with Youth**1. Strengths-based and empowerment-oriented practice**

Strengths-based practice recognizes young people as possessing abilities, aspirations, relationships and resources rather than defining them exclusively through problems.

The social worker identifies strengths, supports goal-setting and facilitates access to opportunities. For example, an unemployed young person may require not only counselling but also skills training, mentoring, networking and access to government employment programmes.

Empowerment therefore becomes both an intervention process and an outcome.

2. Social group work and peer-based interventions

Peer relationships are particularly influential during adolescence and young adulthood. Social group work can create safe environments in which youth

discuss common experiences, develop communication skills, solve problems and provide mutual support.

Joseph, Karalam and Mathew (2024) provide recent evidence from India. Their intervention among adolescents in a child sponsorship programme used social group work and peer-group processes to enhance psychological well-being. The intervention employed a non-equivalent comparison-group interrupted time-series design, and the authors reported significant improvement in psychological well-being over time.

This demonstrates the potential of structured group work as an evidence-informed intervention for marginalized adolescents.

3. Trauma-informed practice

Trauma-informed practice is increasingly relevant across schools, community agencies, child-protection services and mental-health settings.

A trauma-informed social worker should:

- prioritize physical and emotional safety
- build predictable and trustworthy relationships
- avoid unnecessary re-traumatization
- provide meaningful choices
- recognize individual coping mechanisms
- strengthen personal and social resources
- involve young people in decisions affecting them and
- coordinate referrals where specialist services are required.

The approach is especially important when working with homeless youth, survivors of violence, young people in institutional care and those experiencing family disruption.

4. Digital social work and digital citizenship

Digital social work should not be understood simply as providing counselling through video calls. It involves a wider professional response to young people's digital lives.

Potential interventions include:

1. Online psychosocial counselling.
2. Digital mental-health literacy.
3. Cyberbullying prevention.
4. Online safety and privacy education.
5. Digital citizenship programmes.
6. Social-media-based awareness campaigns.
7. Online peer-support networks.
8. Identification and referral of online exploitation.
9. Digital inclusion programmes for disadvantaged youth.

Harris and Johns' global digital citizenship perspective is particularly useful because it moves beyond viewing young people primarily as vulnerable users and recognizes their potential as active digital citizens.

5. Youth social action and community participation

Youth social action represents an important movement toward participatory practice. Rather than designing programmes *for* young people, social workers can facilitate projects designed and implemented *with* young people.

Shearer et al. (2025) reviewed 16 studies representing eight youth social-action interventions involving young people aged 8–16 years. The review identified psychosocial, health and personal-development benefits, while also noting weaknesses in methodological reporting and a shortage of process evaluations and long-term follow-up.

Possible social-action interventions include:

- community cleanliness campaigns;

- environmental projects;
- peer education;
- volunteering;
- anti-bullying campaigns;
- digital-literacy initiatives;
- support for older persons;
- awareness campaigns;
- community health activities; and
- youth-led local development projects.

Such interventions can simultaneously promote leadership, social responsibility, belonging and civic participation.

6. Livelihood, career and skill-development interventions

Social work with youth must increasingly include livelihood dimensions. Employment is not simply an economic issue; it affects identity, independence, family relationships, social status and psychological well-being.

Social workers can act as:

- career counsellors;
- employment-resource navigators;
- skill-development facilitators;
- entrepreneurship mentors;
- government-scheme link workers;
- advocates for disadvantaged youth; and
- coordinators between educational institutions, employers and community agencies.

This approach is consistent with a broader developmental model in which social and economic empowerment are treated as interconnected.

7. Family-centred intervention

Although young people seek increasing independence, family environments continue to influence their well-being. Family conflict, communication problems, excessive expectations, economic stress and inadequate support may contribute to youth difficulties.

Family interventions can include counselling, communication training, parenting education, conflict resolution and family-resource linkage. For young people experiencing homelessness or housing instability, family intervention may also contribute to safe reconnection where appropriate and desired by the young person.

8. School and university-based social work

Educational institutions provide important settings for preventive youth social work. Social workers can identify early signs of distress, provide counselling and referral, conduct awareness programmes and strengthen peer-support systems.

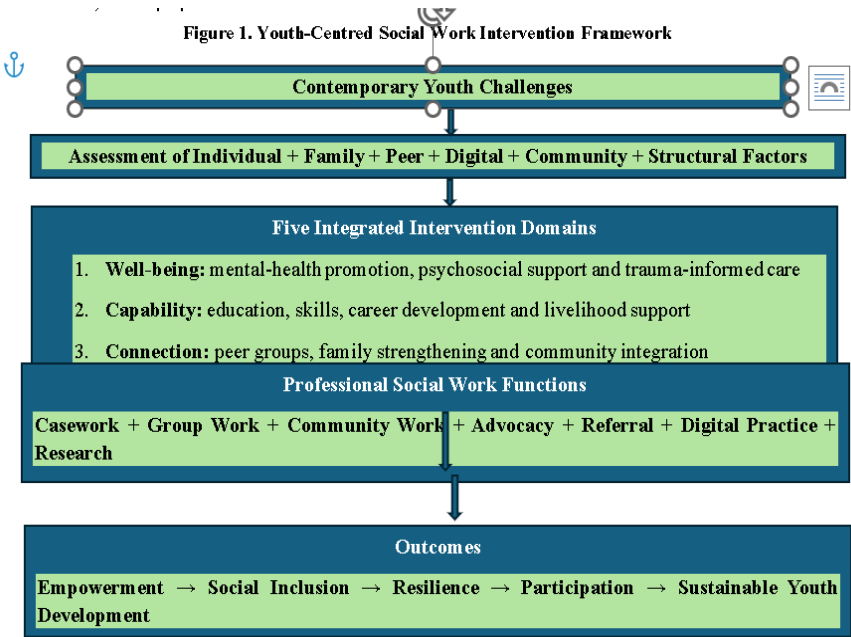
Important intervention areas include:

- academic stress;
- career uncertainty;
- bullying and cyberbullying;
- substance-use prevention;
- relationship difficulties;
- mental-health literacy;
- disability inclusion;
- gender-based violence prevention;
- digital citizenship; and

- transition from education to employment.

Proposed Integrated Framework for Contemporary Youth Social Work

Based on the reviewed literature, an integrated Youth-Centred Social Work Intervention Framework (Y-SWIF) can be proposed.



The **Youth-Centred Social Work Intervention Framework (Y-SWIF)** proposes an integrated approach to address the interconnected challenges faced by contemporary youth. The framework begins with identifying concerns such as mental-health difficulties, unemployment, educational and skill gaps, digital risks, family problems, social exclusion and limited participation. These concerns are assessed at multiple levels, including the individual, family, peer, educational, digital, community and structural levels. Based on this assessment, social workers can combine emerging approaches such as **strengths-based practice, trauma-informed practice, digital social work, youth-led participation, social group work, peer support, community-based intervention and livelihood-oriented**

practice. Rather than treating young people as passive recipients, the framework positions them as active partners in intervention and social change. The expected outcomes are **empowerment, social inclusion, resilience, meaningful participation and sustainable youth development.** Thus, Y-SWIF shifts youth social work from isolated and reactive problem-solving towards an integrated, preventive, participatory and empowerment-oriented approach.

Role of the Contemporary Social Worker

The social worker's role is changing from primarily being a service provider to becoming a **facilitator of resources, relationships and opportunities.**

Table 2. Emerging Roles of Social Workers in Youth Practice

Role	Major function
Counsellor	Provides psychosocial and emotional support
Case manager	Coordinates services according to individual needs
Group worker	Facilitates peer learning and mutual support
Community mobilizer	Connects youth with community resources
Digital practitioner	Addresses online risks and digital well-being
Career facilitator	Links youth with education, skills and employment
Advocate	Addresses structural barriers and rights violations
Mentor	Supports long-term personal and professional development
Researcher	Generates evidence for intervention effectiveness
Youth-participation facilitator	Enables youth to participate in programme decisions
Policy advocate	Communicates youth needs to institutions and policymakers

This expanded role requires social workers to develop competencies in digital technologies, programme evaluation, mental-health literacy, trauma-informed care, community development and interdisciplinary collaboration.

Evidence-Based and Participatory Practice

A major challenge in contemporary youth social work is the limited evaluation of interventions. Programmes are frequently implemented without adequate measurement of outcomes, sustainability or implementation processes.

The recent review by Shearer et al. (2025) specifically identified methodological limitations in youth social-action research and recommended stronger designs, process evaluations, assessment of community outcomes and longer-term follow-up.

Social work interventions should therefore increasingly incorporate:

- baseline assessment;
- clearly defined intervention objectives;
- validated measurement tools where appropriate;
- process monitoring;
- outcome evaluation;
- participant feedback;
- follow-up assessment;
- qualitative accounts of lived experience; and
- transparent reporting.

Mixed-method evaluation is particularly valuable because quantitative measures can indicate whether outcomes changed, while qualitative methods can explain why and how change occurred.

Youth Participation as a Core Principle

Participation should not be symbolic. Young people should have opportunities to influence the assessment of their problems, design of programmes, implementation and evaluation.

Meaningful participation can occur through:

- youth advisory groups;
- peer educators;
- youth-led community projects;
- participatory needs assessments;
- student social-work committees;
- digital consultation platforms;
- youth representation in institutional decision-making; and
- participatory evaluation.

Atieh et al. (2025) emphasize that social factors can influence youth participation in sustainable development, reinforcing the importance of creating supportive social environments rather than merely asking young people to participate.

Implications for Social Work Practice in India

India requires a particularly contextualized approach because youth experience substantial differences across rural and urban settings, gender, class, educational status and access to digital resources.

The draft National Youth Policy identifies youth development through areas including education, health, livelihoods, skills and opportunities for participation.

Social workers can strengthen implementation by acting as bridges between young people and existing programmes. However, information about schemes alone is insufficient. Young people may also need help understanding eligibility, completing applications, accessing documentation, obtaining training and navigating institutional processes.

In rural areas, interventions should emphasize livelihood development, digital inclusion, education continuation, entrepreneurship, migration-related support and community participation. In urban areas, greater emphasis may be needed on housing insecurity, precarious employment, mental health, substance-use prevention, digital risks and social exclusion.

Universities and colleges can also become important sites for preventive social work through counselling, peer support, career development, volunteerism, social action and community engagement.

Challenges in Implementing Contemporary Youth Social Work

Despite the potential of these approaches, several barriers remain.

1. Fragmented services

Youth require support from various agencies at a time but these services are fragmented between health, education, employment and many more. This division is one reason due to which implementation of the holistic approach in contemporary social work.

2. Limited resources

Many community organizations have insufficient professional staff, funding and technological infrastructure.

3. Digital competency gaps

Social workers may be familiar with conventional practice but less prepared to respond to cyberbullying, online exploitation, misinformation or digital mental-health concerns.

4. Stigma

Young people may avoid seeking assistance because mental health, family conflict, substance use and other concerns remain stigmatized.

5. Tokenistic participation

Youth may be invited to programmes without receiving genuine decision-making power.

6. Weak evaluation culture

Interventions may be implemented without systematic outcome measurement, making it difficult to determine effectiveness.

7. Ethical and privacy concerns

Digital practice creates additional concerns relating to confidentiality, informed consent, data security, boundaries and online professional conduct.

Conclusion

Contemporary youth face a complex combination of traditional and emerging challenges. Unemployment, poverty, educational inequality and social exclusion continue to affect young people, while mental-health concerns, digital risks, social isolation, trauma, changing family relationships and insecure employment have added new dimensions to youth vulnerability.

The reviewed literature indicates that social work interventions are increasingly moving toward strengths-based, participatory, developmental and interdisciplinary approaches. Social group work can strengthen psychological well-being; youth social action can promote participation and personal development; trauma-informed practice can improve responses to adversity; digital social work can address emerging online realities; and livelihood-oriented interventions can support the transition from education to productive adulthood. Evidence from India also demonstrates the potential of structured social group work to improve psychological well-being among marginalized adolescents.

The central argument of this paper is that effective youth social work should not merely respond to problems after they emerge. It should build capabilities, strengthen relationships, create opportunities, protect rights and enable young people to participate in shaping their communities.

Thus, the contemporary social worker should function simultaneously as counsellor, facilitator, advocate, mentor, community mobilizer, digital practitioner and researcher. A youth-centred approach that combines individual support with family, community, digital and structural interventions can make social work more responsive to the realities of contemporary youth.

References:

1. Kidd, S.A., Frederick, T., Karabanow, J., Hughes, J., Naylor, T., & Barbic, S. (2016). A mixed methods study of recently homeless youth efforts to sustain housing and stability. *Child and Adolescent Social Work Journal*, 33(3), 207-218.
2. Pandey, S., Jha, H. S., & Upadhyay, D. K. (2020–2021). Social work interventions for children living in institutional care: An overview. *Journal of Education: Rabindrabharati University*, 23(4), 11.
3. Shearer, C., Curran, K. M., Carroll, P., & Foweather, L. (2025). Youth social action interventions in young people aged between 8 and 16 years: A narrative review. *Youth*, 5(1), 8. <https://doi.org/10.3390/youth5010008>
4. Harris, A., & Johns, A. (2021). Youth, social cohesion, and digital life: From risk and resilience to a global digital citizenship approach. *Journal of Sociology*, 57(2), 394–411.
5. Smith, B. (2018). Generalizability in qualitative research: Misunderstandings, opportunities, and recommendations for the sport and exercise sciences. *Qualitative Research in Sport, Exercise and Health*, 10(1), 137–149.
6. Das, G. M., & Lalitha, S. (2023). Social group work with young people in Tamil Nadu, India: A case study of civic engagement. *Youth & Policy*. <https://www.youthandpolicy.org/articles/social-group-work/>
7. Sahu, J., & Khandai, H. (2023). Social change and skill development in youths. *International Journal of Creative Research Thoughts (IJCRT)*, 11(7), h28-h34.
8. Motcham, C. R. (2015). Contemporary youth in India: Prospects, problems, and perspectives. *Indian Streams Research Journal*, 5(7).
9. Pollock, G., & Hind, E. (2017). *Young people, contemporary challenges and the future trends*. European Union/Council of Europe Youth Partnership.
10. Joseph, S., Karalam, S. R. B., & Mathew, J. (2024). Social work intervention research in child sponsorship programs: Enhancing psychological well-being of marginalized adolescents. *SAGE Open*, 14(4), 21582440241305311. <https://doi.org/10.1177/21582440241305311>
11. Moorthy, D., & Jeyadevi, J. C. (2023). *Government schemes and support for skill development and entrepreneurship among the youth in rural India*.
12. Vikhe, S. S., Palghadmal, Y., & Kadam, S. N. (2023). To study the knowledge of government National Health Scheme among youth aged 18 to 25 in Rahata Taluka of Ahmednagar District. *Cross Current International Journal of Humanities and Social Sciences*, 9(4), 49–54. <https://doi.org/10.36344/ccijhss.2023.v09i04.002>

13. An Evaluation Study Of NSS In India, 2008-09, Conducted By Tata Institute Of Social Sciences, Mumbai For The Ministry Of Youth Affairs & Sports, Govt. Of India, New Delhi
14. Mishra, R. (2014), Rethinking Youth Work in India: Does Youth Development Approach Make Sense? A chapter in the book "Social Entrepreneurship: A livelihood option with social transformation", p. 36 -40.
15. Small, S. And Memmo, M. (2004), "Contemporary Models of Youth Development and Problem Prevention: Towards an Integration of Terms, Concepts, and Models", Family Relations, Vol. 53, No.1
16. Moorthy, D., & Jeyadevi, J. C. (2023). A study on awareness of Central Government schemes for the sustainable development of rural India with reference to Coimbatore. *International Journal of Engineering and Management Research*, 13(3), 155–162. <https://doi.org/10.31033/ijemr.13.3.21>
17. Sheykhi, M. T. (2021). Social work vs the youth: A sociological appraisal. *Clinical Medicine and Health Research Journal*, 1(1), 2025. <https://doi.org/10.18535/cmhrj.v1i1.11>
18. Griffin, C., 2001, “Imaging New Narratives of Youth: Youth Research, the „New Europe” and Global Youth Culture”, *Childhood*, 8: 147-166.
19. Rabari, M. H. (2024). Youth and social work. *International Journal for Multidisciplinary Research*, 6(2). <https://doi.org/10.36948/ijfmr.2024.v06i02.15986>
20. Ahmad, I., Hossain, M.I. & Kayum, T.M.A. Exploring social work camping as a tool for enhancing professional skills in social work students. *Discov glob soc* 4, 194 (2026). <https://doi.org/10.1007/s44282-026-00554-9>
21. Gruslyte M. Service-Learning in social work education to develop social work competencies in university students. *Educ Innov Divers*. 2021;1(2):41–7.
22. Powell, Z., & Gates, T. G. (2025). Trauma-informed social work practice with children, youth, and families. *Australian Social Work*, 78(4), 375–378. <https://doi.org/10.1080/0312407X.2025.2549610>
23. Pathak, Tarali & Roy, Sonmani. (2025). Analysis of Social and Personal Problems among Youths. *Asian Journal of Education and Social Studies*. 51. 219-228. 10.9734/ajess/2025/v51i41863.
24. Maheo, L. A. M., Maheo, L. N., Kapoor, K. C., & Palamattathil, G. (2024). A study on the youth problems of 11th and 12th grade students in Ukhrul district of Manipur. *Educational Administration: Theory and Practice*, 30(5), 15474–15479. <https://doi.org/10.53555/kuey.v30i5.9281>

25. Vekariya R.J. and Parikh J (2019). Youth problems and aggression among adolescents. *The International Journal of Indian Psychology*; 7(4); DOI:10.25215/0704.126
26. Dholariya V.V. (2020). Youth problem among adolescents: A study with reference to educational level, gender and residential area. <https://www.jetir.org/papers/JETIR2012116.pdf>
27. Singh, S (2016). Problems of youth: A study of college students in context to their gender. *International Journal of Home Science*; 2(1): 18-21. www.homesciencejournal.com
28. Ghani, J., & Rafiq, M. (2024). Challenges facing youth in contemporary times: Causes and solutions (An analytical study in the light of the Qur'an and Hadith). *Advance Social Science Archive Journal*, 2(4), 1005–1012.
29. Atieh, N. N., Tarawneh, H. H., Ghaboush, R. A., Anabtawi, M. F., & Adwan, R. A. A. (2025). Social factors and obstacles affecting youth participation in sustainable development: The social dimension. *International Journal of Innovative Research and Scientific Studies*, 8(2), 1599–1610. <https://doi.org/10.53894/ijirss.v8i2.5520>
30. J. Pallant, SPSS survival manual: A step-by-step guide to data analysis using SPSS for Windows (Version 12), 2nd ed. Maidenhead: Open University Press, 2005.
31. R. N. Al-Shaws, "Obstacles that prevent youth from effectively participating in development processes in the Libyan Arab society," *Arab Journal of Social Sciences*, vol. 5, no. 12, pp. 61-91, 2017.

Menstruation:- Environment And Hygiene Is Important. (The User- Experience- Based Qualitative Exploratory Study Conducted In Chhattisgarh)

Anika Singh

Department of Social Work, University of Lucknow

Abstract

Introduction- In today's time, in our society, both men and women are talking about menstruation, whether by video or film. Everyone is busy informing each other and talking about menstruation. Even the government is providing sanitary pads in the cheapest amount to help rural women.

Problems- Do we ever talk about the purpose of using sanitary pads, why they are used, and, most importantly, whether they are comfortable or not? The answer is, 'No, we just use it, fold it, and throw it away. We never try to know that there is plastic hidden inside the sanitary pads and in what way it is destroying our health, but when we throw it away, it also destroys our environment too. How are we polluting? We don't even try to know about it.

Objective: The main objective of this research paper is also to determine that disposable sanitary pads are harmful for our health and our environment. And also, how can we replace them with eco-friendly FHP?

Procedure: A telephonic interview, an online survey, and a literature review were used in a qualitative exploratory study with 50 women and girls in Chhattisgarh.

Result: The result of the research was that most participants were not aware of menstrual cups, banana fiber pads (BFP), and other plant-based pads. A disposable

sanitary pad was the only absorbent used during the menstrual cycle, and the respondent was unwilling to switch over to other types of feminine hygiene products (FHP). The reason for not adopting other FHP was also indicated by their becoming very comfortable and used to with those pads. The majority of the respondents knew of the environmental hazards of FHP.

Conclusion: Plant-based solutions like banana fiber pads (BFP) are the most promising option as an eco-friendly, non-invasive substitute to meet MHM needs in populous areas, according to feasibility and acceptance studies. Also keep in mind that menstrual hygiene management (MHM) addresses SDG targets 3, 6, 11, and 15 in light of this. In addition to being a useful and practical period product, the menstrual cup has the potential to become another sustainable and reusable alternative product. To use the current platform and encourage broader use, it requires increased awareness and promotion. To validate these results, greater sample sizes and longer study durations are required.

Keywords: Sanitary pads, Environment, Feminine hygiene products (FHP) , Menstrual cup.

Introduction

Men and women experience the period known as menstruation in a variety of ways, making it one of the most controversial physiological occurrences in their lives. Some people experience it and hope it would never happen, among other reasons because they are terrified of bleeding, but others view it as a beautiful gift from nature. Regardless of personal experience, the fact remains that a certain industry has historically been responsible of producing a wide range of goods, including all kind of FHP like, reusable pads, water proof underwear, menstrual discs, cups, tampons, BFP, and disposable sanitary pads. While some of them are more well-liked than others, their ultimate goal is to make those “red days” stain-free. Among all these options, if any option has been sucked the most then it is disposable sanitary pads. Regarding the last assertion, have we ever given these items’ effects on the environment any thought? Do we genuinely know what

harmful substances and synthetic compounds are employed in their production? Though that's how it seems, that's not how things really work . Okay, so let's first know what periods are? Period or Menstruation is the process through which the uterus sheds tissue and blood, through the vagina, said by UNFPA. For ladies and girls who are of reproductive age, this is a normal and healthy process. The continuity of the periods varies from person to person, it usually lasts two to five days . It is well recognized that poor Menstrual Hygiene Management (MHM) practices badly impact the initiatives of countries toward achieving several significant sustainable development goals i.e. SDGs 3, 4, 5, 6, 8, 12 and 15. The government has distributed subsidized disposable sanitary pads, which has expanded their adoption, and has made great progress in expanding women's access to MHM supplies. While encouraging proper MHM practices was the intention, women are ignorant of the environmental degradation that results from this. In India, menstrual waste amounts to 113,000 tonnes annually, primarily from discarded sanitary napkins. Menstrual waste in rural locations can be disposed of by burning, burying, or throwing in contaminated areas. Disposable napkins impede the breakdown of soil by killing its microorganisms when they come into touch with it. Recycling is essential to handling garbage in an ethical manner. However, because sanitation facilities are not designed to handle menstrual waste, recycling disposable sanitary goods is extremely difficult.

Investigating reusable, sustainable, and environmentally friendly alternatives to MHM could be a way to address both issues at once and offer more hygienic options with less of an adverse effect on the environment. Scaling and developing reasonably priced, safe, and mostly biodegradable alternatives is the key to promoting excellent MHM practices in the future.

This paper shows light on the grave issue of disposable sanitary pads that how they are harmful for our health and the environment, as well as what can be the best reusable and environmentally friendly alternative that can be adopted to replace this disposal sanitary pads.

Methodology

Computer searches for pertinent studies from electronic databases like Google Scholar.

- **Study design:-** Qualitative exploratory approach has been used in this research report. The main survey carried out in Chhattisgarh provides support for the conclusions made in this research. Snowball sampling, a non-probability sampling technique, is the method used in this process. In CG, women and girls between 19 and 32 are selected. The questionnaire has been attached. A telephonic interview in Hindi and an English-language questionnaire were conducted with a subset of the participants. In order to obtain additional insight and knowledge about potential alternatives, a number of research articles are evaluated on this subject. Typically, questionnaires, telephonic interviews, and literature reviews are put to use as study design techniques.
- **Data collection:-** The survey design, which was prepared through forms app with the following questions:-
 1. Name.
 2. Place.
 3. What is your age.
 4. What do you currently doing . (option given)
 5. What material you use in periods. (option given)
 6. Is it leak free (option given)
 7. Is it comfortable (option given)
 8. With your menstrual product did you feel trouble participating in any kind of social activities. (option given)
 9. Is it environmental friendly (option given)
 10. Is it reusable or disposable (option given)
 11. How many days you get your periods continuity in a month
 12. What is the cost of your product up to those days
 13. What you prefer to be better option in period to use. (option given).

Results

Twelve journal articles that satisfy the inclusion criteria’s results are broken down into three sub-discussions: one on effectiveness, the other one cleanliness and safety, and the other one the impact on the environment. These sub-discussions are based on the topic of the literature review, which examines the use of menstrual pads, BFP, tampons, and menstrual cups. Roughly thirty-three percent of the research that was done with literature reviews which is published in the years 2018 to 2023. The majority of these studies used qualitative research, and nearly all of the research in articles used a basic random sampling design model. The majority of the research was done via questionnaires, interviews, and observation.

The survey was sent via WhatsApp and email. The English language was used in the survey’s development. The purpose of the study was described in a note at the start of the survey.

With a mean age of 23.84 years, the study participants are in the age range of 19 to 32 years. Of the 50 participants, 38 (or 76%) use disposable sanitary pads, 9 use menstruation cups, and 3 use reusable pads. Every participant had a minimum of a 10th grade education and a maximum of a master’s degree in a separate area, and many of them were employed in various professional fields.

Some participants were also interviewed over the phone; two of them had used menstruation cups and not had a good experience. Someone commented that “If it is not inserted correctly and completely enclosed, I felt like something is pricking me”.

“Removing the menstrual Cup is very tricky,” stated another. “It can be uncomfortable and anxious, especially for people with weak muscles in the pelvic floor or a high cervix”.

Additionally, a person who uses disposable sanitary napkins was interviewed. “I am aware that sanitary napkins are bad for the environment and for us,” she stated. However, we’ve used it so frequently that it’s now second nature.”

Discussion

When it comes to the FHP , many women in the state do not have the luxury of choice. FHP use patterns can also be influenced by cultural context. For instance, in certain settings , using tampons or other internal sanitary products is considered culturally improper. Many elements influence a person’s decision-making when they are in a situation where they can choose their menstrual products. Disposable menstruation pads are the most widely used period product in the market. The following factors influence the decision about menstrual hygiene management : product availability, cost, reliability, peer pressure, cultural considerations, family , and environmental impact. Up to 90% of the basic materials used in disposable menstrual products—which are primarily disposed of in landfills—are plastic. The most common materials used to make disposable pads and tampons are cotton mixed with rayon or other synthetic fibres and polymers like polyester. Tampons may come in plastic applicators and have small amounts of plastic inside the cotton tampon’s core. With features like extra absorbent strips and/or leak-proof bases, pads frequently contain even more synthetic plastic than tampons. Tampons, applicators, and pads are used and then disposed of as solid waste, which ends up in landfills or is burned in incinerators to produce energy, or they are flushed down the toilet and end up in the water systems. Disposable pads are considered to take 500–800 years to decompose in a landfill, and materials like plastic never fully biodegrade. Considering that the average menstruator uses and discards between 5,000 and 15,000 pads and tampons during their lifetime, this is a serious matter. The available research on the environmental effects of various FHP suggests that the disposable menstrual pad has the greatest environmental impact due to its production’s amount of depletion of minerals and fossil fuels, its estimated carbon footprint, and the quantity of wet and dry waste it generates.

Apart from the single-use items, period product packaging also contributes significantly to waste production. Approximately 400 pounds of packaging is discarded per menstrual cycle per lifetime.

For this reason, it is essential that all women in India’s rural and urban areas have access to inexpensive, biodegradable sanitary products in place of expensive, non-biodegradable ones. Numerous initiatives are being implemented to improve menstrual hygiene because, as is well known, many rural women in Chhattisgarh lack knowledge about additional options. One such initiative will examine the frequency with which readily available products composed of biodegradable natural fibres may be used as sanitary pads. There are always a few options that are available, such as:

Menstrual cup:-

Menstrual or vaginal cups are sold in India. Thanks to the non-absorbing silicon rubber it contains, it does not lead to infections, allergies, or rashes. It does not have an unpleasant smell or feel moist because it is worn inside. Sanitary pads are not as durable and cost-effective as other options. They had to pay roughly 50 rupees a month for sanitary pads to last for only one cycle, as opposed to a single Cup, which costs about 300 rupees and can be used for more than 5 years. But yes as we know that inserting something inside the vagina is still a taboo for our Indian culture. However, as we all know, wearing a menstrual cup might be difficult at first until we get used to it. Inserting or removing them can be challenging at first, but it is possible to become proficient with them. If they were inserted without lubricant or were not thoroughly cleaned, they would irritate the vagina. It is necessary to wash them after each use.

Plant-based menstruation products are an additional option for those who find washing them in public places to be quite uncomfortable.

Plant-based menstrual pads:-

Jute is a long, smooth, shiny vegetable fibre that may be woven into thick, strong threads. Next to cotton, it is one of the most cost-effective natural fibres for production and use. Bamboo fibre, or bamboo fabric, is another material that is incredibly absorbent. Bamboo fibre also absorbs more water than cotton. The company “*Sathi*” supplies the fibres from banana and bamboo locally; they create

the “*Sathi pad*” . Despite being manufactured in Gujarat, India, menstruation women can purchase this pad elsewhere. Because all of the materials in these pads are plant-based, they are chemical-free and biodegradable. Compared to plastic pads, this lowers the harm that they pose to the environment and the health of women.

Conclusion

In conclusion, this qualitative study adds to our understanding of the fact that, according to a survey of fifty women from Chhattisgarh, the majority of them use disposable sanitary pads during their natural cycles, and that, while 28% of respondents were aware of menstrual cups, they were unaware of plant-based alternatives. Additionally, a menstrual cup and plant-based products provide an alternative to disposable sanitary pads, according to the research review. Although there are some initial challenges, such as proper insertion and removal and ensuring product hygiene where and counter, Menstrual Cups are an effective and convenient alternative period product for managing menstrual hygiene among urban educated and self-independent women. For those individuals, plant-based menstrual products are more acceptable and convenient. Because these pads are plastic-free, there is virtually no chance of any health risks, and there are no negative environmental effects. According to the environmental assessment, using the three products under study, disposable sanitary pads have a more serious adverse effect on the ecosystem than menstrual cups, while plant-based sanitary pads are generally more environmentally friendly and have beneficial effects on the socioeconomic medium in the specific and economic component. This effect is particularly noticeable on the health and local economic elements.

References

1. E. Alzate and Y. Sánchez, “The use of sanitary pads and menstrual cups and their impact on environment,” 2020 Congreso Internacional de Innovación y Tendencias en Ingeniería (CONIITI), Bogota, Colombia, 2020, pp. 1-5, doi: 10.1109/CONIITI51147.2020.9240278.

2. Achuthan, K., Muthupalani, S., Kolil, V. K., Bist, A., Sreesuthan, K., & Sreedevi, A. (2021, March 26). A novel banana fiber pad for menstrual hygiene in India: a feasibility and acceptability study. *BMC Women's Health*, 21(1). <https://doi.org/10.1186/s12905-021-01265-w>
3. Woo, J., Kim, S., Kim, H., Jeong, K. S., Kim, E., & Ha, E. (2019). Systematic Review on Sanitary Pads and Female Health. *The Ewha Medical Journal*, 42(3), 25. <https://doi.org/10.12771/emj.2019.42.3.25>
4. 2.Warashinta, D., Astari, A., & Merdikawati, A. (2021, August 7). ANALYSIS OF THE USE OF MENSTRUAL PAD, TAMPONS, AND MENSTRUAL CUP DURING MENARCHE. *Journal of Community Health and Preventive Medicine*, 1(2), 24–31. <https://doi.org/10.21776/ub.jochapm.2021.001.02.4>
5. Tuli, A., Dalvi, S., Kumar, N., & Singh, P. (2019, July 25). “It’s a girl thing.” *ACM Transactions on Computer-Human Interaction*, 26(5), 1–24. <https://doi.org/10.1145/3325282>
6. Patel, K., Dwivedy, S., Panda, N., Swain, S., Pati, S., & Palo, S. K. (2023, March 1). Is menstrual cup a sustainable and safe alternative in menstrual hygiene management? A qualitative exploratory study based on user’s experience in India. *Clinical Epidemiology and Global Health*. <https://doi.org/10.1016/j.cegh.2022.101212>
7. Harrison, M. E., & Tyson, N. (2022, July 4). Menstruation: Environmental impact and need for global health equity. *International Journal of Gynecology & Obstetrics*, 160(2), 378–382. <https://doi.org/10.1002/ijgo.14311>
8. Kumari, S., & Muneshwar, K. N. (2023, October 16). A Review on Initiatives for Promoting Better Menstrual Hygiene Practices and Management in India. *Cureus*. <https://doi.org/10.7759/cureus.47156>
9. Tudu, P. N. (2019, December). Saathi Sanitary Pads: Eco-friendly pads which will make you go bananas! *International Journal of Nonprofit and Voluntary Sector Marketing*, 25(1). <https://doi.org/10.1002/nvsm.1667>
10. Sornapudi, S. D., Shrivastava, M., Soni, S., & Jha, S. (2018, September 10). Adoption, Use and Environmental Impact of Feminine Hygiene Products among College Going Girls of Udaipur. *International Journal of Current Microbiology and Applied Sciences*, 7(09), 3719–3725. <https://doi.org/10.20546/ijcmas.2018.709.461>
11. Hand, J., Hwang, C., Vogel, W., Lopez, C., & Hwang, S. (2023, February 1). An exploration of market organic sanitary products for improving menstrual health and environmental impact. *Journal of Water, Sanitation and Hygiene for Development*, 13(2), 63–77. <https://doi.org/10.2166/washdev.2023.020>

12. Singh, R., Agarwal, M., Sinha, S., Chaudhary, N., Sinha, H. H., & Anant, M. (2022, September 28). Study of Adaptability and Efficacy of Menstrual Cups in Managing Menstrual Health and Hygiene: A Descriptive Longitudinal Study. Cureus. <https://doi.org/10.7759/cureus.29690>

Foundations of Multidimensional Stress: Concepts, Nature, and Major Theories

Swadha Sinha

Research Scholar (Department of Arts)
Manglayatan University, Aligarh U.P. India

Abstract

Stress has emerged as one of the most pervasive challenges of the twenty first century, affecting individuals across biological, psychological, social, occupational, and environmental domains. The rapid pace of technological advancement, urbanization, globalization, changing lifestyles, and increasing professional and personal demands has transformed stress into a complex phenomenon that extends beyond a purely physiological response. Contemporary research recognizes stress as a multidimensional process that arises through the interaction of individual characteristics, environmental demands, cognitive appraisal, emotional responses, and behavioural adaptation. Understanding this complexity requires an interdisciplinary perspective that integrates concepts from psychology, physiology, medicine, sociology, education, and behavioural sciences. This chapter provides a comprehensive examination of the conceptual and theoretical foundations of multidimensional stress, offering readers a broad understanding of its evolution, characteristics, dimensions, and scientific explanations.

To establish a strong theoretical foundation, the chapter critically reviews the major theories that have significantly influenced stress research and practice. The principal theories include:

1. General Adaptation Syndrome (Hans Selye)
2. Transactional Theory of Stress and Coping (Richard Lazarus and Susan Folkman)
3. Conservation of Resources Theory (Stevan E. Hobfoll)
4. Person–Environment Fit Theory
5. Demand Control Model (Robert Karasek)
6. Allostatic Load Model (Bruce S. McEwen)

Each theory is examined with respect to its fundamental assumptions, conceptual contributions, practical applications, strengths, and limitations. By synthesizing classical foundations with contemporary theoretical developments, this chapter presents multidimensional stress as a dynamic and evolving construct that cannot be adequately explained from a single disciplinary perspective. The integration of conceptual, physiological, psychological, behavioural, and environmental viewpoints provides a comprehensive framework for understanding the complexity of stress and its implications for health and well being.

Keywords: stress, concept, nature, theory, adaptation, appraisal, coping, resilience, cognition, emotion, behavior, physiology, environment, health, wellbeing

Introduction

Stress has emerged as one of the most significant challenges of contemporary society, influencing individuals across every stage of life and affecting physical health, psychological well being, social relationships, and professional functioning. The accelerating pace of technological advancement, globalization, urbanization, occupational competition, environmental uncertainty, and changing societal expectations has transformed stress into a complex and multidimensional phenomenon. Although stress is often associated with adverse outcomes, it also plays an adaptive role by preparing individuals to respond effectively to challenges and changing circumstances. The impact of stress, however, depends on its intensity, duration, individual perception, and the availability of personal and

environmental resources. The scientific understanding of stress has evolved considerably over the past century. Following the **Introduction**, the discussion begins with the **Historical Evolution of the Concept of Stress**, tracing the development of stress from its early scientific origins to contemporary interpretations across multiple disciplines. The chapter then examines **Defining Stress**, presenting classical definitions, contemporary definitions, and a comparative analysis that highlights the evolution of conceptual thinking. Building on this foundation, the chapter explores **Understanding Multidimensional Stress**, discussing its biological, psychological, cognitive, emotional, behavioural, social, environmental, and occupational dimensions to illustrate the interconnected nature of stress experiences.

The subsequent section examines the **Nature and Characteristics of Stress**, explaining its defining features and dynamic qualities. This is followed by a discussion of the **Types of Stress**, including acute stress, episodic stress, chronic stress, eustress, distress, and traumatic stress, together with their distinguishing characteristics and implications. The chapter then analyses various **Stressors**, classifying them as internal and external while further examining physical, psychological, social, occupational, and environmental sources of stress. To explain the biological basis of stress responses, the chapter presents the **Physiological Mechanisms of Stress**, with particular emphasis on the sympathetic nervous system, the hypothalamic–pituitary–adrenal (HPA) axis, hormonal responses, and the concept of allostasis. The following influential theories are critically examined:

1. General Adaptation Syndrome (Hans Selye)
2. Transactional Theory of Stress and Coping (Richard Lazarus and Susan Folkman)
3. Conservation of Resources Theory (Stevan E. Hobfoll)
4. Person Environment Fit Theory
5. Demand Control Model (Robert Karasek)
6. Allostatic Load Model (Bruce S. McEwen)

Historical Evolution of the Concept of Stress

The concept of stress has undergone a remarkable transformation over the centuries, evolving from a term associated primarily with the physical sciences to one of the most extensively studied constructs in psychology, medicine, physiology, sociology, education, and organizational behaviour. Today, stress is recognized as a multidimensional phenomenon that influences nearly every aspect of human functioning. This broad understanding, however, is the outcome of a long process of conceptual development rather than a single scientific discovery. The word *stress* originates from the Latin term *stringere*, meaning "to draw tight" or "to tighten." During the Middle Ages, the term was used to describe hardship, adversity, or suffering experienced by individuals. By the seventeenth century, the concept had become associated with pressure, force, and strain in everyday language. These early interpretations reflected the challenges and burdens encountered in human life rather than a scientific explanation of biological or psychological functioning.

A significant conceptual shift occurred during the eighteenth and nineteenth centuries when engineers and physicists adopted the term to describe the internal force exerted within materials when subjected to external pressure. In engineering, *stress* referred to the amount of force applied to an object, whereas *strain* described the deformation resulting from that force. Although these definitions belonged to the physical sciences, they later influenced medical researchers who began drawing parallels between mechanical systems and the human body. The analogy suggested that just as physical structures respond to external pressure, human beings also react to environmental demands, though in far more complex ways. The evolution of stress research also reflects changing societal conditions. Rapid urbanization, technological dependence, digital communication, occupational competition, environmental uncertainty, financial instability, and global public health challenges have introduced new sources of stress that were relatively uncommon in earlier decades.

Defining Stress

Stress is one of the most widely discussed yet frequently misunderstood concepts in contemporary scientific literature. Although the term is commonly used in everyday conversations to describe feelings of pressure, anxiety, or exhaustion, its academic meaning is considerably broader and more nuanced. Researchers from physiology, psychology, medicine, sociology, organizational behaviour, and public health have defined stress from different perspectives, each emphasizing particular aspects of the stress experience. Stress is best understood as a multidimensional phenomenon that encompasses biological reactions, psychological processes, cognitive evaluations, emotional experiences, behavioural responses, and environmental influences.

Classical Definitions of Stress

The earliest scientific definitions of stress were grounded in physiology and medicine. These definitions viewed stress primarily as a biological response that enables the body to adapt to environmental demands. One of the earliest contributors, **Walter B. Cannon (1932)**, did not define stress directly but introduced the concept of **homeostasis**, emphasizing the body's ability to maintain internal balance despite external challenges. Cannon demonstrated that threatening situations activate the sympathetic nervous system, producing the well-known *fight-or-flight response*. According to his work, physiological changes such as increased heart rate, elevated blood pressure, rapid breathing, and the release of adrenaline prepare the body to confront or escape danger. Although Cannon focused primarily on physiological adaptation, his work established the scientific foundation for later stress theories.

The most influential classical definition was proposed by Hans Selye (1936), who described stress as *"the non-specific response of the body to any demand placed upon it."* This definition marked a turning point in stress research because it emphasized that the body's reaction remains relatively similar regardless of the

nature of the stressor. Selye's work also distinguished between **eustress**, representing beneficial or motivating stress, and **distress**, referring to excessive or harmful stress that exceeds an individual's adaptive capacity. This distinction remains highly relevant because it highlights that stress can produce both positive and negative outcomes depending on its intensity and duration.

Understanding Multidimensional Stress

Stress is no longer viewed as a phenomenon that can be explained solely through biological reactions or psychological experiences. Advances in behavioural sciences, neuroscience, medicine, sociology, and organizational research have demonstrated that stress is multidimensional in nature, involving the continuous interaction of biological, psychological, cognitive, emotional, behavioural, social, environmental, and occupational factors. Each of these dimensions contributes uniquely to the development, perception, and management of stress, while simultaneously influencing one another. The multidimensional perspective recognizes that individuals differ considerably in how they perceive and respond to stressful situations. Two people exposed to the same circumstance may experience entirely different levels of stress because their biological makeup, psychological resilience, cognitive appraisal, emotional regulation, social support, work environment, and previous life experiences vary. This comprehensive approach has become increasingly important in understanding stress within educational institutions, workplaces, healthcare settings, sports, and everyday life. Exploring each dimension individually provides a more holistic understanding of the complexity of stress and highlights the need for integrated approaches to stress assessment and management.

Biological Dimension

The biological dimension forms the physiological foundation of the stress response. Whenever an individual encounters a situation perceived as challenging or threatening, the body automatically activates complex neuro physiological mechanisms designed to maintain survival and restore internal balance. These

responses involve the coordinated functioning of the nervous, endocrine, cardiovascular, and immune systems.

Psychological Dimension

The psychological dimension focuses on the internal mental processes that shape how individuals experience stress. Stress does not arise solely from external events but is strongly influenced by personality traits, beliefs, motivations, self esteem, resilience, optimism, and previous experiences. Individuals with higher levels of psychological resilience often perceive demanding situations as manageable challenges rather than overwhelming threats. Those with low self confidence, perfectionist tendencies, or persistent negative thinking may interpret relatively minor difficulties as highly stressful. Psychological characteristics such as emotional stability, locus of control, self efficacy, and adaptability significantly influence how people respond to adversity. Mental health also plays a crucial role in this dimension. Anxiety, depression, chronic worry, and unresolved psychological conflicts can intensify stress reactions, while positive psychological resources such as confidence, hope, and emotional maturity promote healthier adjustment.

Cognitive Dimension

The cognitive dimension emphasizes the role of perception, interpretation, and decision making in determining stress experiences. According to cognitive theories, individuals respond not to situations themselves but to the meaning they assign to those situations. When confronted with a demanding event, people first evaluate whether the situation is harmful, threatening, or challenging. They subsequently assess whether they possess sufficient resources and abilities to cope successfully. This process of cognitive appraisal largely determines whether stress develops. Several cognitive factors influence this appraisal process, including attention, memory, problem-solving ability, expectations, beliefs, and previous experiences. Cognitive distortions such as catastrophizing, overgeneralization, and negative self evaluation often magnify perceived stress, whereas realistic thinking

and effective problem solving reduce psychological strain. Developing positive cognitive strategies enables individuals to reinterpret stressful situations more constructively, enhancing adaptability and reducing emotional distress. Therefore, cognition serves as a crucial link between external demands and individual stress responses.

Emotional Dimension

Human emotions are central to understanding stress because stressful experiences are almost always accompanied by emotional reactions. Fear, anxiety, frustration, anger, sadness, disappointment, guilt, and helplessness commonly emerge when individuals perceive that their goals or well being are threatened. The intensity and duration of emotional responses vary considerably depending on personality, emotional intelligence, previous experiences, and available social support. Individuals who effectively recognize, express, and regulate their emotions generally cope better with stressful situations than those who suppress or ignore emotional experiences. Positive emotions such as hope, gratitude, confidence, and optimism can also buffer the effects of stress by encouraging adaptive coping and psychological resilience. Emotional regulation strategies including mindfulness, relaxation, acceptance, and constructive emotional expression help maintain psychological well being even under demanding circumstances.

Behavioral Dimension

Stress frequently manifests through observable behavioural changes. Individuals experiencing elevated stress may alter their daily routines, communication patterns, work habits, eating behaviour, sleeping patterns, and social interactions. Common behavioural responses include irritability, withdrawal from social activities, procrastination, reduced productivity, impulsive decision making, aggression, excessive screen time, substance misuse, emotional eating, or disturbed sleep. Adaptive behavioural responses include regular physical activity, effective time management, healthy eating, relaxation practices, and seeking professional support when required. Behaviour not only reflects stress but also

influences its progression. Positive behavioural adjustments often interrupt the cycle of chronic stress, whereas maladaptive behaviours may intensify both psychological distress and physical illness.

Social Dimension

Human beings exist within social systems, making interpersonal relationships an important determinant of stress experiences. Family relationships, friendships, workplace interactions, educational environments, community networks, and cultural expectations all shape how individuals perceive and cope with stress. Supportive social relationships provide emotional encouragement, practical assistance, and a sense of belonging that enhances resilience during difficult situations. In contrast, interpersonal conflicts, social isolation, discrimination, financial hardship, family instability, and lack of social support often intensify stress and reduce coping capacity. Cultural beliefs further influence attitudes toward stress by shaping expectations regarding success, gender roles, family responsibilities, and emotional expression.

Environmental Dimension

The environment in which people live, work, and interact significantly influences their stress experiences. Environmental stressors may arise from physical conditions such as noise, overcrowding, pollution, climate change, natural disasters, poor housing, inadequate transportation, or unsafe neighborhoods. Rapid urbanization and technological development have introduced additional environmental pressures, including constant digital connectivity, information overload, reduced privacy, and increasing exposure to social media. These conditions contribute to cognitive fatigue, reduced concentration, sleep disturbances, and emotional exhaustion. A supportive environment characterized by safety, green spaces, adequate infrastructure, and access to healthcare and education promotes resilience and well being.

Occupational Dimension

Work occupies a substantial portion of adult life and represents one of the most significant sources of stress in modern society. Occupational stress emerges when job demands exceed an individual's resources, abilities, or level of control over work related activities. Heavy workloads, unrealistic deadlines, long working hours, job insecurity, role ambiguity, interpersonal conflicts, inadequate organizational support, poor leadership, and work life imbalance are among the most common occupational stressors. In educational institutions, similar pressures may arise from academic responsibilities, performance expectations, and competitive environments. However, meaningful work, supportive leadership, professional autonomy, recognition, opportunities for career development, and healthy workplace relationships contribute positively to employee well-being and organizational productivity.

Integrating the Dimensions of Multidimensional Stress

Although each dimension has been discussed separately for conceptual clarity, they operate as an integrated system rather than independent components. Biological responses influence emotions; emotions shape cognition; cognition guides behaviour; behaviour affects social relationships; social interactions modify psychological resilience; and environmental and occupational conditions continuously interact with all these processes. This interconnectedness explains why stress differs substantially across individuals despite exposure to similar circumstances. Viewing stress through a multidimensional lens enables researchers and practitioners to appreciate its complexity and avoid oversimplified explanations. Such an approach also provides the foundation for comprehensive assessment, prevention, and intervention strategies that address the multiple factors contributing to stress.

Types of Stress

Stress is not a uniform experience. It varies in intensity, duration, and impact

depending on the nature of the situation and an individual's ability to cope. Based on these characteristics, stress can be classified into several types.

1. **Acute Stress** : Acute stress is the most common and short lived form of stress. It occurs in response to immediate challenges or unexpected situations, such as examinations, public speaking, or meeting deadlines. Although it temporarily activates the body's stress response, acute stress usually subsides once the situation is resolved and rarely causes long term health problems.
2. **Episodic Stress** : Episodic stress develops when episodes of acute stress occur repeatedly over time. Individuals who constantly face deadlines, multitask excessively, or live in a state of persistent urgency are more likely to experience episodic stress. If left unmanaged, it may gradually affect both physical and psychological well being.
3. **Chronic Stress** : Chronic stress is a prolonged form of stress that persists for weeks, months, or even years. It often results from ongoing life difficulties such as financial problems, family conflicts, chronic illness, or demanding work conditions. Continuous exposure to chronic stress may contribute to various health complications, including cardiovascular disorders, weakened immunity, anxiety, and depression.
4. **Eustress** : Eustress refers to positive or beneficial stress that motivates individuals to perform effectively and adapt to new challenges. It is commonly experienced during events such as starting a new job, participating in competitions, or achieving personal goals. Eustress enhances concentration, confidence, and productivity without causing significant harm.
5. **Distress**: Distress is the negative form of stress that occurs when perceived demands exceed an individual's coping capacity. It is often accompanied by feelings of anxiety, frustration, helplessness, and emotional exhaustion.

Prolonged distress may impair physical health, reduce work performance, and negatively influence overall quality of life.

6. **Traumatic Stress :** Traumatic stress arises following exposure to highly distressing events such as natural disasters, serious accidents, violence, abuse, or the sudden loss of a loved one. Such experiences may overwhelm an individual's coping resources and lead to persistent emotional and psychological difficulties. In severe cases, traumatic stress may contribute to the development of post traumatic stress disorder (PTSD).

Stressors

Stressors are the internal or external factors that trigger the stress response. They differ in nature, intensity, and duration, and their impact depends on how individuals perceive and respond to them.

1. **Internal Stressors :** Internal stressors originate within the individual. Negative thinking, self doubt, perfectionism, unrealistic expectations, fear of failure, and persistent worrying are common examples. These factors often intensify stress even in the absence of major external challenges.
2. **External Stressors :** External stressors arise from the surrounding environment and include life events or circumstances beyond an individual's direct control. Academic pressure, financial difficulties, family responsibilities, interpersonal conflicts, and workplace demands are common examples of external stressors.
3. **Physical Stressors :** Physical stressors involve conditions that place strain on the body. These may include illness, injury, sleep deprivation, excessive physical exertion, poor nutrition, extreme temperatures, or chronic pain. Such stressors directly influence physiological functioning and overall health.
4. **Psychological Stressors:** Psychological stressors stem from thoughts, emotions, and mental conflicts. Fear, anxiety, uncertainty, disappointment,

low self esteem, and unresolved emotional issues often contribute to psychological stress by affecting an individual's perception and emotional well being.

5. **Social Stressors** : Social stressors arise from interpersonal relationships and social interactions. Family conflicts, social isolation, discrimination, peer pressure, relationship problems, and lack of social support can significantly influence emotional health and coping ability.
6. **Occupational Stressors** : Occupational stressors are associated with the workplace or professional responsibilities. Heavy workloads, role ambiguity, job insecurity, unrealistic deadlines, inadequate organizational support, and poor work life balance are among the most common occupational sources of stress.
7. **Environmental Stressors** : Environmental stressors originate from the physical surroundings. Noise pollution, overcrowding, poor housing conditions, traffic congestion, environmental pollution, climate change, and exposure to natural disasters can all increase stress and reduce overall well-being.

Physiological Mechanisms of Stress

The body's response to stress involves a coordinated interaction between the nervous, endocrine, and immune systems. These physiological mechanisms help individuals adapt to immediate challenges by preparing the body for action. However, prolonged activation may adversely affect health.

1. **Sympathetic Nervous System** : The sympathetic nervous system initiates the body's immediate response to stress, commonly known as the "fight-or-flight" response. It stimulates the release of adrenaline and noradrenaline, increasing heart rate, blood pressure, breathing rate, and energy availability to help the body respond quickly to perceived threats.

2. **Hypothalamic Pituitary Adrenal (HPA) Axis :** The HPA axis is a major neuroendocrine pathway involved in regulating the stress response. When stress persists, the hypothalamus stimulates the pituitary gland, which in turn activates the adrenal glands to release cortisol. This hormone helps maintain energy balance and supports adaptation during prolonged stress.
3. **Hormonal Responses :** Stress triggers the secretion of several hormones, including adrenaline, noradrenaline, and cortisol. These hormones increase alertness, mobilize energy reserves, and regulate metabolic processes necessary for coping with stressful situations. Persistent hormonal imbalance, however, may contribute to various physical and psychological health problems.
4. **Allostasis :** Allostasis refers to the body's ability to achieve stability through physiological and behavioural adaptation in response to changing environmental demands. Unlike homeostasis, which emphasizes maintaining constant internal conditions, allostasis highlights the body's capacity to adjust continuously to stress. When these adaptive mechanisms are activated repeatedly over long periods, they may lead to cumulative physiological strain, commonly referred to as allostatic load.
5. **Major Theories of Stress :** Over the years, researchers have proposed several theories to explain how stress develops, how individuals respond to it, and why similar situations produce different reactions in different people.

General Adaptation Syndrome (Hans Selye)

Hans Selye's General Adaptation Syndrome (GAS) is one of the earliest and most influential biological theories of stress. It explains stress as the body's non specific physiological response to any demand or challenge. According to Selye, the stress response progresses through three stages: alarm, during which the body prepares to face the stressor; resistance, where adaptation occurs and physiological functioning attempts to return to normal despite continued stress; and exhaustion, which develops when prolonged stress depletes the body's adaptive resources. The

theory highlights the biological mechanisms of adaptation but gives limited attention to individual psychological differences.

Transactional Theory of Stress and Coping (Lazarus & Folkman)

The Transactional Theory of Stress and Coping, proposed by Richard Lazarus and Susan Folkman, views stress as a dynamic interaction between the individual and the environment. According to this theory, stress depends largely on cognitive appraisal, or how a person interprets a particular situation. Individuals first evaluate whether an event is threatening and then assess their available coping resources. When demands are perceived to exceed coping abilities, stress develops. The theory emphasizes that effective coping strategies can reduce the negative effects of stress and improve adaptation.

Conservation of Resources Theory (Hobfoll)

Stevan Hobfoll's Conservation of Resources (COR) Theory proposes that individuals strive to obtain, maintain, and protect valuable resources such as health, time, social support, finances, self esteem, and personal abilities. Stress occurs when these resources are threatened, lost, or insufficient to meet life's demands. Acquiring and strengthening resources enhances resilience and reduces vulnerability to stress. The theory explains why individuals with greater personal and social resources often cope more effectively during difficult situations.

Person Environment Fit Theory

The Person Environment Fit Theory suggests that stress arises when there is a mismatch between an individual's abilities, needs, or expectations and the demands or characteristics of the surrounding environment. A poor fit may occur when job responsibilities exceed an individual's skills, when personal values conflict with organizational culture, or when available resources fail to meet environmental demands. The theory highlights the importance of achieving compatibility between individuals and their environments to promote well being and effective functioning.

Allostatic Load Model (McEwen)

Bruce McEwen's Allostatic Load Model explains the long term physiological consequences of repeated or chronic stress. The model introduces the concept of allostatic load, which refers to the cumulative wear and tear on the body's physiological systems resulting from continuous adaptation to stress. Although the body's stress response is essential for survival, repeated activation over extended periods may impair cardiovascular, metabolic, immune, and neurological functioning. This theory highlights the close relationship between chronic stress and long term health outcomes.

Integrative Perspective on Multidimensional Stress

No single theory or discipline can fully explain the complexity of stress. The multidimensional perspective recognizes that stress emerges through the continuous interaction of biological responses, cognitive appraisal, emotional regulation, behavioural adaptation, social relationships, environmental conditions, occupational demands, and available personal resources. These dimensions are closely interconnected, with changes in one domain often influencing the others. An integrative approach therefore provides a more comprehensive understanding of stress by combining physiological, psychological, social, and environmental perspectives. Such an approach not only strengthens theoretical understanding but also supports the development of holistic strategies for stress prevention, assessment, and management across diverse settings.

Indian Philosophical Perspectives on Stress

Long before stress became a subject of scientific investigation, Indian philosophical traditions had reflected deeply on the nature of human suffering, emotional imbalance, and the search for inner stability. Although these traditions did not employ the modern scientific term "stress," they explored many of the mental and behavioural processes that contemporary researchers now associate with stressful experiences. Their emphasis on self awareness, disciplined action, emotional regulation, and harmonious living provides a valuable philosophical

framework that complements current psychological and physiological models of stress.

The **Bhagavad Gita** presents one of the earliest discussions related to psychological conflict and emotional resilience. Set against the backdrop of the Kurukshetra battlefield, the dialogue between **Lord Krishna** and **Arjuna** illustrates how fear, uncertainty, attachment, and moral dilemmas can disturb mental equilibrium. Krishna's teachings encourage individuals to perform their duties with dedication while remaining detached from excessive attachment to outcomes (*Nishkama Karma*). This principle promotes emotional stability and reduces anxiety arising from uncertainty and unrealistic expectations.

Similarly, the **Yoga Sutras of Patanjali** describe mental disturbances as consequences of uncontrolled fluctuations of the mind (*Chitta Vritti*). Patanjali proposes that practices such as self discipline, ethical conduct, meditation, concentration, and mindfulness cultivate mental clarity and emotional balance. These practices strengthen an individual's ability to manage internal conflicts and respond more effectively to life's challenges, thereby reducing psychological distress.

Buddhist philosophy also offers valuable insights into the understanding of stress through its explanation of suffering (*Dukkha*). According to the teachings of **Gautama Buddha**, suffering arises primarily from attachment, craving, and ignorance. The **Four Noble Truths** and the **Eightfold Path** advocate self awareness, moderation, compassion, and mindful living as pathways toward reducing suffering and achieving inner peace. Although these teachings are spiritual in origin, many of their underlying principles have influenced contemporary approaches to stress management, particularly mindfulness based interventions.

The **Upanishads** further emphasize self knowledge, inner awareness, and the realization of one's true nature as essential for attaining lasting peace and freedom from mental disturbances. They suggest that external achievements alone cannot

ensure well being unless accompanied by inner harmony and self understanding. This perspective resonates with contemporary psychological views that recognize resilience, emotional intelligence, and adaptive coping as important determinants of stress.

Taken together, Indian philosophical traditions view stress not merely as a reaction to external events but as an experience shaped by the interaction between the mind, emotions, behaviour, and consciousness. While these perspectives differ from modern scientific theories in their philosophical orientation, they provide enduring insights into self regulation, resilience, and psychological well being. Integrating these traditional viewpoints with contemporary stress theories enriches the multidimensional understanding of stress and highlights the value of a holistic approach that combines biological, psychological, social, and spiritual dimensions of human experience.

References

1. American Psychological Association. (2020). *Publication manual of the American Psychological Association* (7th ed.). American Psychological Association.
2. Bryant, E. F. (2009). *The Yoga Sutras of Patañjali: A new edition, translation, and commentary*. North Point Press.
3. Cannon, W. B. (1932). *The wisdom of the body*. W. W. Norton & Company.
4. Cohen, S., Kessler, R. C., & Gordon, L. U. (Eds.). (1995). *Measuring stress: A guide for health and social scientists*. Oxford University Press.
5. Easwaran, E. (2007). *The Bhagavad Gita* (2nd ed.). Nilgiri Press.
6. Fink, G. (Ed.). (2016). *Stress: Concepts, cognition, emotion, and behavior* (Vol. 1). Academic Press.
7. Folkman, S. (2013). Stress: Appraisal and coping. In M. D. Gellman & J. R. Turner (Eds.), *Encyclopedia of behavioral medicine* (pp. 1913–1915). Springer.
8. Gambhirananda, S. (Trans.). (2017). *Bhagavad Gita: With the commentary of Śaṅkarācārya*. Advaita Ashrama. (Original work published 1984)
9. Hobfoll, S. E. (1989). Conservation of resources: A new attempt at conceptualizing stress. *American Psychologist*, 44(3), 513–524. <https://doi.org/10.1037/0003-066X.44.3.513>

10. Hobfoll, S. E. (2001). The influence of culture, community, and the nested-self in the stress process: Advancing conservation of resources theory. *Applied Psychology*, 50(3), 337–421. <https://doi.org/10.1111/1464-0597.00062>
11. Karasek, R. A., Jr. (1979). Job demands, job decision latitude, and mental strain: Implications for job redesign. *Administrative Science Quarterly*, 24(2), 285–308. <https://doi.org/10.2307/2392498>
12. Lazarus, R. S. (1991). *Emotion and adaptation*. Oxford University Press.
13. Lazarus, R. S. (1993). From psychological stress to the emotions: A history of changing outlooks. *Annual Review of Psychology*, 44, 1–21. <https://doi.org/10.1146/annurev.ps.44.020193.000245>
14. Lazarus, R. S., & Folkman, S. (1984). *Stress, appraisal, and coping*. Springer Publishing Company.
15. Mascaró, J. (Trans.). (2003). *The Upanishads*. Penguin Classics. (Original work published 1965)
16. McEwen, B. S. (1998). Protective and damaging effects of stress mediators. *The New England Journal of Medicine*, 338(3), 171–179. <https://doi.org/10.1056/NEJM199801153380307>
17. McEwen, B. S. (2007). Physiology and neurobiology of stress and adaptation: Central role of the brain. *Physiological Reviews*, 87(3), 873–904. <https://doi.org/10.1152/physrev.00041.2006>
18. McEwen, B. S., & Stellar, E. (1993). Stress and the individual: Mechanisms leading to disease. *Archives of Internal Medicine*, 153(18), 2093–2101.
19. Quick, J. C., & Henderson, D. F. (2016). Occupational stress: Preventing suffering, enhancing well-being. *International Journal of Environmental Research and Public Health*, 13(5), Article 459. <https://doi.org/10.3390/ijerph13050459>
20. Radhakrishnan, S. (1948). *The Bhagavadgita*. George Allen & Unwin.
21. Radhakrishnan, S. (1993). *The principal Upanishads*. HarperCollins India. (Original work published 1953)
22. Sapolsky, R. M. (2004). *Why zebras don't get ulcers* (3rd ed.). Henry Holt and Company.
23. Satchidananda, S. (Trans.). (2012). *The Yoga Sutras of Patanjali*. Integral Yoga Publications. (Original work published 1978)
24. Selye, H. (1936). A syndrome produced by diverse nocuous agents. *Nature*, 138(3479), 32. <https://doi.org/10.1038/138032a0>
25. Selye, H. (1956). *The stress of life*. McGraw-Hill.

26. Selye, H. (1976). *Stress in health and disease*. Butterworth-Heinemann.
27. Taylor, S. E. (2021). *Health psychology* (11th ed.). McGraw-Hill Education.
28. Vivekananda, S. (2001). *Raja Yoga*. Advaita Ashrama. (Original work published 1896)
29. World Health Organization. (2022). *World mental health report: Transforming mental health for all*. World Health Organization.
30. World Health Organization. (2023). *Mental health*. <https://www.who.int/health-topics/mental-health>
31. Wynne, A. (2007). *The origin of Buddhist meditation*. Routledge.

Privatisation and Its Effects on Tribal Labour: Socio-Economic Challenges at IGNTU, Amarkantak

Ramkrishan Kothare
PhD Scholar,
Indira Gandhi National Tribal
University, Amarkantak,
Madhya Pradesh,

Dr Manohar Bhimrao Yerkalwar,
Associate Professor,
Indira Gandhi National Tribal
University, Amarkantak, Madhya
Pradesh,

Abstract

This research paper examines the **socio-economic challenges** faced by tribal labourers in the context of privatisation at Indira Gandhi National Tribal University (IGNTU) in Amarkantak, Madhya Pradesh. Privatisation, a key component of India's economic reforms, has significantly changed employment patterns, wage structures, and working conditions, particularly in tribal regions that have long struggled with economic marginalisation and fewer opportunities. The study explores issues that examine (a) the socio-economic conditions of tribal labour belonging to Igntu University. (b) the job satisfaction at their workplace and working conditions. The paper highlights several key issues, including low wages, job insecurity, and working conditions resulting from outsourcing practices and contractor companies. It also analyses the social implications of privatisation, such as the increased vulnerability of tribal communities to economic exploitation, reduced access to public benefits, and the loss of traditional livelihoods. Through primary research of IGNTU, this research explains the effects of privatisation on the tribal workforce, highlighting the existing socio-economic conditions of the workers, which were exploited because they were not educated.

Keywords:- IGNTU, Privatisation, tribal labour, worker, outsourced worker.

Introduction

Privatisation has been a central feature of India’s economic reforms since the 1990s, driving a shift from a largely state-controlled economy to one that encourages private-sector participation across various sectors. While these reforms have led to economic growth and increased efficiency in specific industries, they have also had significant social and financial repercussions, especially in marginalised communities. One of the most affected groups in this transition has been the tribal population, whose socio-economic conditions have often been left behind in the race for development.(Mehta & Singh, 2021a)

The tribal communities in India, historically marginalised and economically disadvantaged, depend on agricultural activities, forest resources, and manual labour for their livelihoods. These communities often face barriers such as low levels of education, limited access to healthcare, and inadequate infrastructure. Despite these challenges, many tribal people find employment in government institutions and public sector jobs, which traditionally offer better job security, benefits, and protections than the private sector (Ibrahmin & AI Falasi,2014).

Indira Gandhi National Tribal University (IGNTU), located in Amarkantak, Madhya Pradesh, plays a critical role in the education and empowerment of tribal youth, mainly by providing opportunities for higher education and skill development. However, over the past few decades, there has been a gradual shift towards privatisation, including the outsourcing of services such as security, housekeeping, and administrative support. This shift has had profound implications for the tribal workforce employed at IGNTU, as many have been moved from stable government employment to temporary, low-paying, contract-based work under private contractors.(KUMAR et al., 2019)

This research explores the socio-economic challenges tribal labourers face in the context of this shift towards privatisation at IGNTU. By examining the consequences of privatisation on employment conditions, wages, job security, and the overall livelihood of tribal workers, the paper seeks to highlight the broader impact of neoliberal economic policies on tribal communities. The study also investigates the wider socio-cultural consequences, including the marginalisation of tribal populations and the disruption of community structures.\

Through this research, we aim to understand the nuanced ways in which privatisation is reshaping the lives of tribal workers while considering potential policy interventions to address the emerging socio-economic challenges. Ultimately, this study contributes to the ongoing discourse on privatisation in India and its implications for vulnerable populations, particularly in rural and tribal regions.

India has witnessed an impressive growth rate of over 6 per cent based on Gross Domestic Product (GDP) since the 1980s. Growth has been remarkably rapid since the post-reform period of the 1990s (Mospi). This high growth has contributed to a sustained increase in per capita income, a decline in absolute poverty, and a modest improvement in living standards. The structure of the labour market, patterns of employment growth and labour-market institutions play an essential role in shaping development patterns and outcomes. Today, India is categorised as an important emerging economy, but employment conditions remain poor. Overall, the labour-force-to-population ratio (aged 15 years and above) is 56 per cent in India, compared with nearly 64 per cent for the rest of the world. The low participation in India is mainly due to low female labour force participation.

The labour force participation rate (LFPR) is dismally low at 31 per cent, amongst the lowest in the world and the second-lowest in South Asia after Pakistan (though official figures are underestimated). Even today, the large proportion of workers engaged in agriculture (about 49 per cent) contributes a mere 14 per cent to the GDP (Swaminathan S. & Anklesaria Aiyar, 2016)

Tribes are the aboriginal, most primitive peoples in society, primarily residing in forested areas. Traditionally, it has been observed that tribal people depend solely on nature for their livelihoods and, in return, help protect forests and other natural resources. Over time, the traditional sources of livelihood of tribes have changed due to colossal population pressure, shifts in government policies, and the influence of modernisation, urbanisation, and industrialisation. (**Girish Ranjan Sahoo & Manoj Kumar Sadual,2018**) In this research paper, a central University, Indira Gandhi National Tribal University, Amarkantak, where the population is tribally dominant, is examined, and it is shown that after the university's establishment, tribal people's livelihoods and working patterns changed. The paper has to focus on the socio-economic conditions of tribal labour.

Literature Review

Tribal Labour and Employment Conditions

Tribal communities, often located in rural and remote areas, have traditionally engaged in agricultural, artisanal, and informal labour. According to several studies (e.g., Thakur & Kumar, 2018), tribal workers tend to occupy the lower rungs of the labour market, often in poorly paid, insecure, and unregulated sectors. The exclusion from formal education and skills development further limits their upward mobility in the labour market. This sector is marked by vulnerability to exploitation and wage theft, and many tribal workers are employed in jobs that offer limited or no benefits.

Sahoo and Mishra (2019) argue that tribal labour remains predominantly in subsistence agriculture or seasonal work in both the formal and informal sectors. The informal labour

The market's precariousness has made tribal communities especially susceptible to the adverse effects of privatisation.

Privatisation and Its Impact on Tribal Communities

Privatisation, the transfer of ownership and control of public services or assets to the private sector, has become a central feature of economic reform in many countries. For tribal communities, privatisation often leads to displacement and the loss of access to land and natural resources once controlled by public authorities. When state-owned industries are privatised, the emphasis on profit maximisation often reduces the priority given to local communities, including tribal groups (Dube & Ray, 2020).

Several studies have highlighted how privatisation has led to the contraction of labour-intensive industries that were traditionally a source of employment for tribal populations. For instance, in the case of the privatisation of mining and forestry industries, many tribal workers were displaced without adequate compensation or resettlement schemes (Chaudhary, 2017). This exclusion from new economic opportunities results in both wage reductions and job insecurity for tribal populations.

Another crucial aspect of privatisation is the rise of contract and temporary labour. Privatised industries tend to rely heavily on flexible labour models, which often result in lower wages, poor working conditions, and reduced benefits for tribal workers who are disproportionately affected by such changes (Prakash & Agarwal, 2021).

Wage Inequality and Tribal Workers

Wage inequality remains a pervasive issue for tribal workers, exacerbated by their marginalisation in both rural and urban labour markets. Tribal workers, particularly in the agricultural sector, often receive lower wages than their non-tribal counterparts. According to Kumar and Pandey (2020), tribal workers are not only paid lower wages. However, they are also often excluded from formal wage-setting institutions such as trade unions, which play a key role in negotiating better pay and working conditions.

The wage gap between tribal and non-tribal workers has persisted despite various legal protections and affirmative action policies aimed at promoting social equity. The implementation of minimum wage laws in several countries has failed to close the wage gap, with enforcement mechanisms often weak in tribal-dominated regions (Roy & Choudhury, 2018).

Additionally, privatisation and the contraction of the public sector have often reduced job security and wage stability for tribal communities. The shift towards more flexible employment contracts in privatised industries has increased vulnerability to wage cuts and exploitation (Kumar & Sahoo, 2019).

Gender and Tribal Labour

Gender dynamics also play a crucial role in shaping the experiences of tribal workers in the context of privatisation. Women in tribal communities, who are already marginalised by their gender, experience compounded disadvantages when it comes to employment and wages. They are often relegated to the lowest-paying jobs and informal sectors, which are most susceptible to exploitation under privatisation policies. According to Dey (2020), privatisation has had a disproportionate impact on tribal women's economic participation, with many pushed out of agricultural labour into low-wage industrial jobs that do not provide job security or adequate wages.

Policy Responses and Future Directions

In response to these issues, various policies have been suggested and implemented to address the labour and wage problems faced by tribal communities. These include affirmative action policies, land reform programs, and government support for tribal entrepreneurship. However, the effectiveness of these policies has been limited by implementation challenges and the lack of coordination across various levels of government (Bhattacharya, 2022).

To mitigate the adverse effects of privatisation on tribal workers, scholars have called for stronger regulatory frameworks to protect vulnerable workers in

privatised industries. There is a growing demand for policies that ensure tribal communities' access to social safety nets, promote equitable wage structures, and support tribal entrepreneurship and labour rights.

Objective

The research was conducted with several objectives in mind.

1. To identify the socio-economic conditions of tribal labour belonging to Igntu University.
2. To understand the job satisfaction at their workplace and working conditions.

Research Methodology

Study Area

Madhya Pradesh is one of the major tribal states of India, with Scheduled Tribes constituting approximately 21.1% of the state's population (**Sadual & Sahoo, 2021**) Anuppur is an important tribal district of Madhya Pradesh, where the Baiga tribe is majorly found. The Baiga are also recognised as a Particularly Vulnerable Tribal Group (PVTG). Anuppur district is administratively divided into four tehsils: Anuppur, Pushparajgarh, Kotma, and Jaithari. The present study was conducted in Pushparajgarh tehsil, where the Indira Gandhi National Tribal University (IGNTU) in Amarkantak is located.

The study focuses specifically on tribal labourers working at IGNTU in Amarkantak, particularly those engaged under contractual and outsourced employment. These workers are employed in various activities, including security services, cleaning and sanitation, horticulture, maintenance, construction-related work, and other outsourced services. The study seeks to understand their socio-economic conditions and workplace experiences in the context of contractual employment and changing employment conditions.

Universe of the Study

The study universe comprises tribal labourers working on a contractual or

outsourced basis at Indira Gandhi National Tribal University in Amarkantak, Pushparajgarh tehsil, Anuppur district, Madhya Pradesh. According to information available from the university, more than 400 workers, including male and female workers, are engaged in different contractual and outsourced activities.(John W. Creswell, J. David Creswell, 2018)

For the present study, 50 tribal workers were selected as respondents to collect primary data regarding their socio-economic conditions and workplace experiences.

Sources of Data

The study is based on both primary and secondary data sources.

Primary data were collected directly from tribal workers employed on a contractual or outsourced basis at IGNTU, Amarkantak. A total of 50 workers were interviewed using a semi-structured interview schedule. Information was collected regarding their socio-economic background, employment status, wages, working conditions, job security, working hours, access to workplace facilities, and other relevant aspects of their employment.(Verma & Srivastava, 2020)

Secondary data were collected from published research and journals. Secondary sources were used to understand the broader socio-economic and employment context of tribal labour and to support and contextualise the findings of the primary study.

Sampling Method

The study adopted purposive sampling to select respondents.(John W. Creswell J. David Creswell, 2018) This method was considered appropriate because the study specifically focuses on tribal workers engaged in contractual and outsourced employment at IGNTU. Workers who met the study criteria were approached and selected for participation.

A total of 50 tribal workers, both male and female, participated in the study. Semi-structured interviews were conducted to obtain information about their socio-economic conditions, employment experiences, and workplace conditions.

Period of the Study

The fieldwork and primary data collection for the study were conducted in August 2025.

Data Collection Tool

A semi-structured interview schedule/questionnaire was used as the main tool for collecting primary data. The schedule included questions on respondents' socio-economic characteristics, educational status, family background, occupation, wages, working hours, employment security, workplace facilities, and other relevant working conditions.

Data Analysis and Presentation

The collected data were organised, coded, and analysed using the Statistical Package for the Social Sciences (SPSS). Since the present study primarily aims to describe the socio-economic and workplace conditions of tribal labourers, descriptive statistical techniques were used to analyse the data. The findings were interpreted in relation to the socio-economic and workplace conditions of tribal contractual labourers at IGNTU, Amarkantak.

Labour force and income in India

A critical inquiry into labour conditions in India over the last couple of decades is vital to understanding labourers. The economic reforms in India started in 1991. Since then, every budget has proposed privatisation and disinvestment as a significant source of income and employment generation. However, capital investment and employment generation have not moved together since then. The unemployment rate has been increasing since 1988, and it is still rising at an average rate of 5% per year. State-led employment generation schemes in India

have a poor track record; however, every government uses them as a policy tool to justify privatisation and investment. Such political preferences and narratives on employment generation shape the public imagination, leading the government to work toward employment generation. It is also easy to capture the votes; however, no political party takes ownership of low employment generation. It is a fact that people find jobs and livelihoods in different sectors on their own, including agriculture and allied industries. The government often takes the liberty, as a sovereign authority, to articulate employment guarantee programs as poverty-alleviation measures. Interestingly, no government programme can claim to have successfully alleviated poverty. Still, the government has to respond to the labour crisis.(Irshad & Raj, 2022)

DATA ANALYSIS

The sample for the data analysis was purposively selected. The sample size consists of 50 respondents from IGNTU workers. The respondents included both male and female respondents from various departments, including security, housekeeping, horticulture, management, and engineering.

Table 1: Department and distribution of workers.

S.No	Department	No. of Respondents	Percentage (%)
1	Security	22	44
2	Housekeeping	15	30
3	Horticulture	8	16
4	Engineering	5	10
	TOTAL	50	100%

The table shows that 44% of respondents work in Security, followed by 30% in Housekeeping. Horticulture accounts for 16%, while Engineering represents 10%. Thus, Security and Housekeeping together account for 74% of respondents,

indicating that tribal labourers are mainly engaged in security- and housekeeping-related contractual work at IGNTU.

Gender

Table 2: Gender-wise Distribution of Respondents

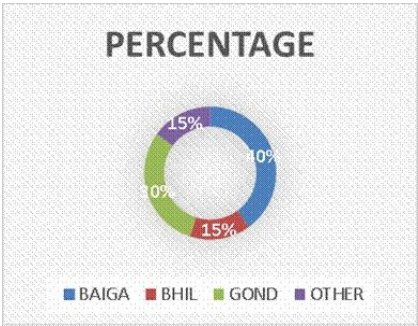
Gender	Male	Female	Total
No. of Respondents	34	16	50
Percentage	68	32	100

The table shows that 34 respondents (68%) are male and 16 (32%) are female. Thus, male respondents constitute the majority of the sample. However, women's participation at 32% indicates significant representation of female tribal labourers in contractual employment at IGNTU.

Religion

The majority of respondents belong to the Baiga and Gond tribes, and only a few are from other tribal groups; all tribal members follow Hinduism. While considering tribal status, the percentages of different tribes are presented systematically in a table.

Pie chart – 3 shows the percentage of tribal workers.



The chart shows that Baiga respondents constitute the largest group at 40%, followed by Gond respondents at 30%. Bhil respondents account for 15%, while other tribal communities also represent 15%. Overall, Baiga and Gond together constitute 70% of the respondents, indicating their significant representation among tribal Worker.

Type of family

Total collected sample: 76% preferred to live in a nuclear family. There were mostly male workers, and 80% lived on campus or off campus near the villages. The distance was 25 km, and not only males but also females reside in rental rooms to earn money.

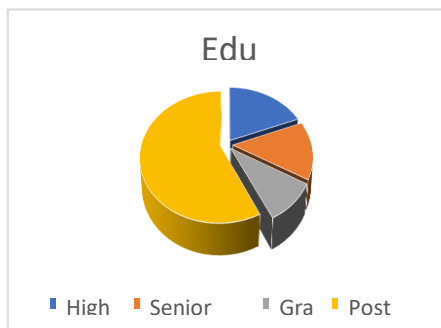
Age

The average age of the workers was 35 years, aligning with their prime working age and highlighting their role as active contributors to family incomes. 90 per cent were married, emphasising their responsibilities as heads of household. Most workers came from villages near the university, showcasing the dependence of surrounding rural communities on IGNTU for employment.

Economic and Occupational Characteristics

Economic dependency on IGNTU jobs was a notable finding, with 90% of the respondents identifying as the primary breadwinners for their families. This dependency underscores the significance of these jobs in maintaining household financial stability. Despite their critical role, their educational qualifications showed significant variation:

Pie chart – 4 shows the education of workers.



- 40% had completed higher school education.
- 30% had senior secondary education.
- 20% were graduates.
- 10% held postgraduate degrees.

This distribution highlights the underutilisation of skills and education, as many workers remain confined to low-paying, labour-intensive roles.

Tribal Labour Income

Table No. 5 shows the income of the worker

S. No.	Monthly Income (₹)	No. of Respondents	Percentage (%)
1	₹12,000–₹15,000	27	54
2	₹15,001–₹18,000	12	24
3	₹18,001–₹22,000	8	16
4	₹22,001–₹25,000	3	6
Total		50	100

Job Satisfaction and Wage Awareness

The study revealed widespread dissatisfaction among workers, with 54% expressing unhappiness with their jobs. Key reasons included a lack of career progression, a lack of recognition of skills, and the physical strain associated with their duties. The dissatisfaction was compounded by wage issues, with 78% reporting earnings below expectations. Many workers noted that their wages were insufficient to meet family needs, falling short of the standards set by the Minimum Wages Act of 1948.

Only 30% of respondents were aware of their legal wage entitlements. This lack of awareness is a critical gap that leaves workers vulnerable to exploitation. Moreover, although some workers had basic knowledge of trade unions, they were unaware of how to leverage these organisations for their benefit.

Socio-Economic Challenges

The socio-economic challenges tribal workers face at IGNTU are deeply intertwined with their regional and institutional contexts. The majority of these workers belong to the Baiga and Gond tribes, communities known for their close-knit social structures and traditional reliance on agriculture and forest-based livelihoods. The transition to wage-based employment at IGNTU represents a significant shift, often marked by economic and social adjustments.(Mehta & Singh, 2021b)

1. **Wage Insecurity:** Despite employment at a central university, many tribal workers reported earnings below the statutory minimum wage (According to the Ministry of Labour and Welfare). For tribal families with scarce alternative income sources, such low wages exacerbate financial insecurity, forcing workers to rely on credit or informal support systems.(Ankita & Kumar, 2026; Rajendra Mahanandia & Bharat Chillakuri, 2018)

2. **Educational Mismatch:** A notable portion of the workforce is relatively well-educated, with some holding graduate and postgraduate degrees. However, their employment in low-skill roles highlights a lack of opportunities to utilise their educational qualifications. This mismatch leads to underemployment and contributes to frustration and a sense of stagnation among workers, particularly younger employees aspiring for upward mobility.(Lenka et al., 2025)
3. **Gender Inequity:** The underrepresentation of women in the workforce is a persistent issue. Cultural norms and safety concerns limit their participation, confining them to specific roles. Women who are employed often face the dual burdens of work and household responsibilities, with limited support systems to address these challenges.(Lerche & Shah, 2018)
4. **Limited Awareness and Advocacy:** While some workers have a basic understanding of trade unions, their lack of practical knowledge about collective bargaining limits their ability to address workplace grievances. The absence of organised representation leaves workers vulnerable to exploitation and reduces their negotiating power for better wages and conditions.
5. **Dependence on IGNTU:** As a major employer in the region, IGNTU plays a pivotal role in the socio-economic stability of local tribal communities. However, this dependence creates vulnerabilities, as workers have limited alternative employment options. Any disruptions in employment or wage disbursements can have cascading effects on household stability.(Mosse et al., 2002)
6. **Cultural Displacement:** Tribal workers often experience a sense of cultural alienation in structured institutional settings like IGNTU. The shift from traditional livelihoods to regimented roles challenges their

sense of identity and belonging, impacting mental well-being and job satisfaction.(Negi & Azeez, 2022)

7. **Working Conditions:** Workers frequently cited physically demanding tasks, long hours, and inadequate workplace facilities as significant concerns, like security guard duty on various squares and gates, they do not have basic facilities like washrooms and torch boots, raincoat for monsoon, etc, For tribal communities accustomed to flexible and communal work structures, these conditions represent a stark departure from their traditional way of life.(Rajendra Mahanandia & Bharat Chillakuri, 2018)

The socio-economic challenges of tribal workers at IGNTU reflect broader systemic issues, including inadequate policy implementation, cultural marginalisation, and limited avenues for skill development. Addressing these challenges requires a holistic approach that considers the unique needs and aspirations of tribal communities while leveraging IGNTU’s role as a central institution for empowerment (Meher, 2009). National Commission for Enterprises in the Unorganised Sector (2009) 15 defined the unorganised sector as “Consisting of all unincorporated private enterprises owned by individuals or households engaged in the sale or production of goods and services operated on a proprietary or partnership basis and with less than ten total workers.”

Limitations and Future Research

Some limitations in this study may be addressed in future research. First, the study focused only on a single demographic area within IGNTU University, not the entire district. Therefore, a future researcher can extend the scope of the work to a broader demographic. Second, the study focused only on tribal labourers at IGNTU University. The results identified in this study may or may not apply to other universities. Hence, future studies can focus on different sectors. Third, the results have been established in the Indian context and cannot be generalised. Future

researchers may base their study on a country perspective.(Arulsenthilkumar S & N, 2024)

Conclusion and Policy Suggestions

The socio-economic analysis of tribal labour at IGNTU highlights pressing challenges that significantly impact their well-being and livelihoods. Workers, predominantly from the Baiga and Gond tribal communities, form the backbone of the university’s operational workforce but remain marginalised due to systemic and socio-economic constraints and low levels of education. Their dependency on IGNTU for employment underscores its pivotal role in shaping their financial stability and future opportunities.(Bansal & Shaikh, 2024)

Key findings include widespread dissatisfaction with wages and job roles, compounded by limited awareness of rights and entitlements. The mismatch between educational qualifications and job roles results in significant losses, leaving many workers underemployed and disillusioned. Furthermore, gender disparities and inadequate working conditions highlight areas requiring urgent intervention.(KUMAR et al., 2019)

To address these challenges, IGNTU must adopt a multifaceted approach that includes wage policy reforms, skill enhancement programs, and initiatives to raise awareness about workers’ rights. By fostering a more inclusive and supportive work environment, the university can not only improve the livelihoods of its tribal workforce but also reinforce its mission of promoting tribal welfare and empowerment.

Suggestions

Job Reservations: Implement job reservation policies in the private sector specifically for Scheduled Tribes (STs) to ensure equitable access to employment.

Support for Entrepreneurship: Encourage entrepreneurship among tribal communities by providing financial support, training, and resources to start small businesses or cooperatives.

1. Improving Educational Access

Infrastructure Development: Invest in educational infrastructure in tribal areas, including schools and vocational training centres, to enhance literacy rates and skill development. **Scholarship Programs:** Establish scholarships for tribal students to pursue higher education, particularly in fields with high employment potential.

2. Healthcare Initiatives

Mobile Health Services: Develop mobile health units to reach remote tribal areas and provide essential healthcare and preventive care. **Health Awareness Campaigns:** Conduct health awareness programs focused on nutrition, sanitation, and preventive healthcare practices tailored to tribal populations' needs.

3. Economic Support Programs

Livelihood Diversification: Promote programs that encourage diversification of livelihoods beyond agriculture, such as handicrafts, eco-tourism, or sustainable forestry practices. **Access to Credit:** Facilitate access to low-interest loans for tribal households through government schemes or partnerships with financial institutions, reducing dependence on informal lenders.

4. Strengthening Representation

Community Participation: Ensure that tribal communities are actively involved in the decision-making processes regarding policies that affect their lives. This can be achieved by establishing local councils or forums where their voices can be heard. **Cultural Preservation Initiatives:** Support programs that promote the cultural heritage of tribal communities while integrating modern economic practices, ensuring that development does not come at the expense of their identity.

Reference

1. Ankita, K., & Kumar, M. (2026). Pushed to the margins: employment, occupation and economic status of tribals in Jharkhand. *SN Social Sciences*, 6(8), 301. <https://doi.org/10.1007/s43545-026-01587-2>
2. Bansal, R., & Shaikh, A. S. (2024). AGRICULTURAL LABOR DYNAMICS IN GUJARAT: A COMPARATIVE STUDY OF TRIBAL AND NON-TRIBAL DISTRICTS. *Gujarat Journal of Extension Education*, 38(1), 29–34. <https://doi.org/10.56572/gjoe.2024.38.1.0006>
3. Irshad, S. M., & Raj, V. (2022). Employability and ‘Marginal Efficiency’ of Labour in Post-COVID Economy. *Journal of Social Inclusion Studies*, 8(1), 51–63. <https://doi.org/10.1177/23944811221097051>
4. John W. Creswell J. David Creswell. (2018). John W. Creswell book. Fifth Edition(2018), 150–250.
5. KUMAR, A., SINGH, R. K. P., KUMAR, P., SINGH, K. M., KUMAR, U., & MISHRA, J. S. (2019). Rural labour employment and livelihoods in tribal villages of eastern India. *The Indian Journal of Agricultural Sciences*, 89(3), 426–432. <https://doi.org/10.56093/ijas.v89i3.87583>
6. Kumar, D., & Sahoo, D. (2019). Natural Resources Matters: Capitalism and People’s Resistance Against Developmentalism in Adivasi Region of India. *The Oriental Anthropologist: A Bi-Annual International Journal of the Science of Man*, 19(1), 83–101. <https://doi.org/10.1177/0972558X19835373>
7. Lenka, S., Nayak, S., & Swain, B. (2025). Skill training and its impact on employment opportunities for tribal youth: A study on Odisha. *Siddhant- A Journal of Decision Making*, 25(2), 86–93. <https://doi.org/10.5958/2231-0657.2025.00009.9>
8. Lerche, J., & Shah, A. (2018). Conjugated oppression within contemporary capitalism: class, caste, tribe and agrarian change in India. *The Journal of Peasant Studies*, 45(5–6), 927–949. <https://doi.org/10.1080/03066150.2018.1463217>
9. Meher, R. (2009). Globalization, Displacement and the Livelihood Issues of Tribal and Agriculture Dependent Poor People. *Journal of Developing Societies*, 25(4), 457–480. <https://doi.org/10.1177/0169796X0902500403>
10. Mehta, B. S., & Singh, B. (2021a). Employment and Livelihoods among Tribal in India. *Journal of the Anthropological Survey of India*, 70(2), 264–277. <https://doi.org/10.1177/2277436X211066517>

11. Mehta, B. S., & Singh, B. (2021b). Employment and Livelihoods among Tribal in India. *Journal of the Anthropological Survey of India*, 70(2), 264–277. <https://doi.org/10.1177/2277436X211066517>
12. Mosse, D., Gupta, S., Mehta, M., Shah, V., Rees, J. fnms, & Team, K. P. (2002). Brokered livelihoods: Debt, Labour Migration and Development in Tribal Western India. *Journal of Development Studies*, 38(5), 59–88. <https://doi.org/10.1080/00220380412331322511>
13. Negi, D. P., & Azeez, E. P. A. (2022). Impacts of Development Induced Displacement on the Tribal Communities of India: An Integrative Review. *Asia-Pacific Social Science Review*, 22(2). <https://doi.org/10.59588/2350-8329.1420>
14. Rajendra Mahanandia, & Bharat Chillakuri. (2018). Living and Working Conditions of Tribal Labour: A Study of Koraput District, Odisha. *Think India*, 21(1), 23–31. <https://doi.org/10.26643/think-india.v21i1.7766>
15. Sadual, M. K., & Sahoo, G. R. (2021). Socio-Legal Conditions of Tribal Labourers Working in the Unorganised Sector of Urban Area: A Study in Odisha. *RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary*, 6(2), 80–84. <https://doi.org/10.31305/rrijm.2021.v06.i02.014>
16. Verma, N., & Srivastava, A. (Eds.). (2020). *The Routledge Handbook of Exclusion, Inequality and Stigma in India*. Routledge India. <https://doi.org/10.4324/9780429295706>

नागपूर विभागातील ग्रामीण महिलांची उच्च शिक्षणातील स्थिती व आव्हाने

परमानंद उके

सहायक प्रोफेसर, डॉ. आंबेडकर कॉलेज
ऑफ सोशल वर्क, वर्धा.

प्रा.स्वप्नील चव्हाण

सहायक प्रोफेसर, डॉ. आंबेडकर कॉलेज
ऑफ सोशल वर्क, वर्धा.

गोष्टवारा :

भारतात स्त्री शिक्षणाची परंपरा अत्यंत प्राचीन आहे. वर्तमान काळात स्त्री शिक्षणाचे प्रमाण अत्यंत कमी आहे या दोन्ही बाबी विसंगत वाटणाऱ्या आहेत पण दुर्दैवाने प्रत्यक्षात व सत्य आहे स्त्रियांचे सक्षमीकरण हा आज सर्वच पातळ्यावरून अत्यंत गांभीर्याने घेतला जात असलेला मुद्दा आहे स्त्री सक्षमीकरणाचा विचार करताना त्याचबरोबर स्त्री शिक्षणाचा देखील विचार केला जाणे महत्वाचे आहे कारण स्त्री शिक्षणाशिवाय स्त्री सक्षमीकरण होणे कदापि सख्य नाही कारण स्त्री शिक्षण व सक्षमीकरण एकाच नाण्याच्या दोन बाजू आहेत भारतीय समाजाच्या विकासात शिक्षण हे महत्वाचे साधन आहे, परंतु ग्रामीण भागातील महिलांना आजही उच्च शिक्षणाच्या प्रवाहात अनेक अडथळ्यांना सामोरे जावे लागते. पारंपारिक मानसिकता, आर्थिक दुर्बलता, भौगोलिक अंतर आणि सुरक्षिततेचा प्रश्न यामुळे ग्रामीण मुलींचा उच्च शिक्षणातील सहभाग शहरी महिलांच्या तुलनेत अत्यंत कमी आहे. प्रस्तुत संशोधन लेखात 2011 ची जनगणना, AISHE 2021 -22 अहवाल आणि युजीसीच्या

आकडेवारीच्या आधारे ग्रामीण महिलांच्या उच्च शिक्षणाची सद्यस्थिती आणि त्यापुढील आव्हानांचे विश्लेषण करण्यात आले आहे.

बीजशब्द - ग्रामीण महिला, उच्च शिक्षण, स्थिती , आव्हाने.

प्रस्तावना-

शिक्षणाच्या सोयी योजना व सवलती मोठ्या प्रमाणात उपलब्ध असल्या तरी समाजाची कोती मानसिकता, शिक्षणाचे महत्त्व न समजणे, रूढी व अंधविश्वास ,सामाजिक कुप्रथा यामुळे मुलींना

शिक्षणापासून वंचित ठेवले जाते. मागील 10 वर्षात बारावीपर्यंत शिक्षण घेतल्यानंतर 15.3% मुलींची लग्न लावून देण्यात आली. 25.4% मुलींचे विवाह आठवा वर्ग शिकल्यावर करून देण्यात आले. आजही देशात 26 टक्के स्त्रिया केवळ दहावी पास आहेत आणि याहून अधिक धक्कादायक म्हणजे 48% मुली केवळ पाचवा वर्ग पास आहेत. अनुसूचित जमातीसाठी " शिक्षण ते आवास "अशा अनेक योजना असल्या तरी मुलींना शिक्षणापासून वंचित ठेवले जाते. ज्यामुळे स्त्री शिक्षणाबाबत जागरूकता निर्माण होत नाही. डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर म्हणतात, " एका पुरुषाला शिक्षण दिल्यास एक व्यक्ती शिकते पण एका स्त्रीला शिक्षण दिल्या संपूर्ण कुटुंब शिकते" स्वातंत्र्याच्या 87 वर्षांनंतरही हा विचार ग्रामीण भारतात पूर्णपणे रुजलेला नाही. उच्च शिक्षण म्हणजे बारावी नंतरची पदवी, पदव्युत्तर ,व्यावसायिक शिक्षण. शहरी भागात मुली आज डॉक्टर ,इंजिनियर ,पायलट होत असताना ग्रामीण भागात 18 व्या वर्षीच विवाह हा अजूनही उच्च शिक्षणाचा सर्वात मोठा अडथळा आहे. नागपूर विभागात उच्च शिक्षणाचा प्रसार काही जिल्हा पुरताच मर्यादित राहिला आहे. नागपूर जिल्ह्याचा GER 52.7% असताना गडचिरोलीचा GER 15% पेक्षा कमी आहे. विशेषता ग्रामीण व आदिवासी महिलांचा विचार करताना गडचिरोलीत 18 ते 23 वयोगटातील आदिवासी प्रवर्गातील मुलींचा GER 6% पेक्षा कमी आहे. भंडारा जिल्ह्यात मुला मुलींचे प्रमाण समान दिसत असले तरी मुलींचा कल रोजगाराभिमुख शिक्षणाकडे नाही. याचे प्रमुख कारण घरची स्थिती आणि गतिशीलतेवरील बंधने असल्याचे दिसून येते. महिलांचे शिक्षण आणि महिलांचा रोजगार यातील दरीवडत चालली असताना महिलांना खरोखरच सक्षम केले जाते का हा सुद्धा प्रश्न निर्माण होतो कारण शहरी महिलांमध्ये उच्च शिक्षण असूनही भारतात महिलांच्या रोजगाराचे प्रमाण खूपच कमी आहे.

उद्देश :-

- ग्रामीण महिलांच्या उच्च शिक्षणातील सद्यस्थिती जाणून घेणे.
- उच्च शिक्षण घेण्यात येणाऱ्या सामाजिक, आर्थिक व भौगोलिक आव्हानांचा अभ्यास करणे.

अध्ययन पद्धती व क्षेत्र -प्रस्तुत संशोधन लेख हा गुणात्मक संशोधन पद्धती चा असून या अध्ययनात नागपूर विभागातील ग्रामीण महिलांच्या उच्च शिक्षणा संदर्भात अध्ययन केलेले आहे.

विषय विश्लेषण :-

स्त्री शिक्षणाचा इतिहास लक्षात घेता स्त्री शिक्षणाचे प्रमाण अधिक असताना स्त्री सक्षमकरण देखील अधिक प्रमाणात झाले होते. तेव्हाची स्त्री आजच्या इतकी असुरक्षित व अवमानित नव्हती. स्त्री शिक्षणाचे प्रमाण जसे जसे घटत गेले तशी तशी स्त्रियांची अवहेलना सुरू झाली. स्वातंत्र्यप्राप्तीनंतरच्या जगात जनगणनेत पुरुष साक्षरतेचे 20% तर स्त्री साक्षरतेचे प्रमाण 8.91% असे धक्कादायक स्वरूपात

समोर आले. तेही विशिष्ट जातीसमूहा पुरते मर्यादित ! स्त्री शिक्षणाचे प्रमाण पुरुषांच्या तुलनेत 1.2% पेक्षा कमी होते. दरम्यानच्या काळात काही विचारवंत व समाज सुधारक ज्यात महात्मा गांधी, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले यांच्यासारख्या थोर व्यक्तींच्या मनात स्त्री साक्षरतेचे महत्त्व व त्यांची उपयुक्तता याबाबत सकारात्मक विचार आले आणि त्यातूनच स्त्री शिक्षणाचा पाया घातला गेला. पुण्यातील मुलींची पहिली शाळा हे त्याचे मूर्तीमंत उदाहरण ठरले.

महिलांची उच्च शिक्षणातील सद्यस्थिती* (AISHE 2021-22 नुसार)

नोंदणी (GER-Gross Enrollment Ratio)- भारताचा एकूण उच्च शिक्षणातील GER 28.4% आहे यात पुरुषांच्या GER 28.3% आणि महिलांचा 28.5% आहे म्हणजे राष्ट्रीय पातळीवरील मुलींनी मुलांना मागे टाकले आहे. परंतु ग्रामीण आणि शहरी अशी विभागणी केली तर- शहरी महिलांचा GER सुमारे 38-40% आहे तर ग्रामीण महिलांचा GER फक्त 18 -20 टक्के आहे. म्हणजे शहरी मुलींच्या तुलनेत ग्रामीण मुलगी उच्च शिक्षणात निम्म्याने मागे आहे. ग्रामीण महिलांचे उच्च शिक्षण हे केवळ पदवी मिळवणे नाही तर ग्रामीण भारताच्या आर्थिक व सामाजिक परिवर्तनाचा मार्ग आहे जेव्हा ग्रामीण मुलगी उच्चशिक्षित होते तेव्हा ती फक्त स्वतःचे कुटुंबच नाही तर संपूर्ण गावाचा विकास घडवते आकडेवारी सांगते की इच्छा असूनही संधी न मिळाल्याने हजारो मुली बारावीनंतर शिक्षण सोडतात.

महाराष्ट्र उच्च शिक्षणात देशात आघाडीवर असलेले राज्य आहे. राज्याचा एकूण GER 35.3% आहे जो राष्ट्रीय सरासरी 28.4% पेक्षा जास्त आहे. परंतु हे चित्र राज्याच्या सर्व भागात सारखे नाही. विशेषतः नागपूर प्रशासकीय विभागाचा विचार केला तर उच्च शिक्षणाची गंगा फक्त नागपूर शहरापुरतीच वाहते आहे असे दिसते. नागपूर, वर्धा, भंडारा, गोंदिया, चंद्रपूर आणि गडचिरोली हे सहा जिल्हे मिळून नागपूर विभाग बनतो. यापैकी नागपूर जिल्ह्याचा GER 52.7% इतका उच्च असताना गडचिरोलीचा GER 14.5% पेक्षाही कमी आहे. ही दरी फक्त जिल्ह्यांमधली नाही तर शहरी आणि ग्रामीण महिला तसेच पुरुष आणि महिला यांच्यातील देखील आहे. ग्रामीण महिला या तर उच्च शिक्षणाच्या सर्वात शेवटच्या पायरीवर आहेत.

सद्यस्थितीची आकडेवारी

महाराष्ट्र आर्थिक पाहणी 2024-25 आणि AISHE 2023-24 नुसार नागपूर विभागातील स्थिती अशी आहे.

एकूण प्रवेशातील महिलांचे प्रमाण 45.36% वर आले आहे. * 2021-22 मध्ये ते 44.5% होते. म्हणजे हळूहळू मुलींची संख्या वाढत आहे. पण ही वाढ शहरातील मुलींची आहे. ग्रामीण भागातील चित्र वेगळे आहे.

नागपूर विभागाचा सरासरी ग्रामीण महिला GER फक्त 16.8% आहे. म्हणजे 18 ते 23 वयोगटातील 100 ग्रामीण मुलींमागे फक्त 17 मुलीच महाविद्यालयात जातात. शहरी भागात हेच प्रमाण 42% आहे. याचा अर्थ शहरातील मुलीच्या तुलनेत ग्रामीण मुलीला उच्च शिक्षणाची संधी अडीच पट कमी आहे.

जिल्हानिहाय तुलना केल्यास ही असमानता अधिक स्पष्ट होते.

नागपूर जिल्हा हा विभागाचा चेहरा आहे. येथे एकूण GER 52.7% आहे. याचे कारण येथे राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज नागपूर विद्यापीठ, शासकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालये, वैद्यकीय महाविद्यालये असे 150 पेक्षा जास्त महाविद्यालये आहेत. तरीही ग्रामीण नागपूरचा विचार केला तर - रामटेक, पारशिवनी, मौदा या तालुक्यातील ग्रामीण महिलांचा GER फक्त 22% आहे. अहिल्याबाई होळकर मोफत ST प्रवास योजनेमुळे 2024-25 मध्ये 24.8 लाख मुलींनी या योजनेचा लाभ घेतल्याने हा आकडा थोडा वाढला आहे.

वर्धा जिल्हा गांधी विचाराने प्रेरित आहे. महात्मा गांधी आंतरराष्ट्रीय हिंदी विद्यापीठ, सेवाग्राम यामुळे येथे सामाजिक जाणीव जास्त आहे. येथील एकूण GER 41% आणि ग्रामीण महिला GER 20% आहे. विभागात हा दुसऱ्या क्रमांकाचा बरा जिल्हा आहे.

चंद्रपूर, भंडारा आणि गोंदिया हे मध्यम स्थितीतील जिल्हे आहेत. चंद्रपूरचा एकूण GER 32% आणि ग्रामीण महिला GER 18%. भंडारा जिल्ह्यावर झालेल्या एका समाजशास्त्रीय अभ्यासात असे दिसून आले की येथे मुला-मुलींचे प्रवेश प्रमाण जवळजवळ समान आहे, पण मुली फक्त स्थानिक पातळीवर उपलब्ध असलेल्या BA, B.Com अभ्यासक्रमांमध्येच अडकतात. त्यांना गतिशीलतेवर बंधन असल्याने त्या इंजिनिअरिंग किंवा विज्ञान शाखेत जात नाहीत. गोंदियात एकूण GER 26% आणि ग्रामीण महिला GER 15% आहे. येथे आदिवासी मुलींचे प्रमाण अत्यंत कमी आहे.

सर्वात गंभीर स्थिती गडचिरोली जिल्ह्याची आहे. हा जिल्हा नक्षलग्रस्त, दुर्गम आणि आदिवासी बहुल आहे. येथील एकूण GER 14.5% पेक्षा कमी आहे आणि ग्रामीण महिलांचा GER फक्त 6.5% आहे. अनुसूचित जमातीच्या मुलींचा GER तर 5.9% आहे. म्हणजे 100 ST मुलींमागे फक्त 6 मुली महाविद्यालयात जातात. 12वी नंतर 70% मुली शिक्षण सोडतात. याची कारणे स्पष्ट आहेत. महाविद्यालय 30 ते 50 किलोमीटर लांब, बस सेवा नाही, वसतिगृह नाही आणि बालविवाहाचे प्रमाण जास्त.

ग्रामीण मुलींचा सर्वाधिक कल आजही पारंपारिक शाखांकडे आहे - BA 48%, <http://B.Com> 15%. तर <http://B.Sc>, Engineering, Medical, Law, Management मध्ये प्रमाण 10% पेक्षा कमी आहे. याचे कारण - गावाजवळ विज्ञान महाविद्यालये नाहीत, प्रयोगशाळा नाहीत, आणि 'मुलीने नोकरी करून काय करायचे'.

इयत्ता 10 वी ते 12 वी मध्ये ग्रामीण मुलींचे गळती प्रमाण 22% आहे, तर 12 वी ते पदवी मध्ये ते 35% पर्यंत जाते. विवाह, स्थलांतर, आणि कुटुंबाची जबाबदारी ही तीन मुख्य कारणे आहेत.

*** ग्रामीण महिलांसमोरील प्रमुख आव्हाने :-**

1. सामाजिक व सांस्कृतिक आव्हाने:-

ग्रामीण भागात आजही 'मुलगी म्हणजे परक्याचे धन' ही भावना आहे. तिच्या शिक्षणावर खर्च करणे म्हणजे वाया गेलेला खर्च असे मानले जाते. बालविवाहाचे प्रमाण जास्त असलेल्या - गडचिरोली, बीड, नंदुरबार, राजस्थान, बिहार या जिल्ह्यांमध्ये उच्च शिक्षणाचे प्रमाण नगण्य आहे. तसेच मासिक पाळी, सुरक्षितता, आणि गावातील लोक काय म्हणतील ही भीती.

2. आर्थिक आव्हाने:-

बहुसंख्य ग्रामीण कुटुंबे शेतमजूर आहेत. एका मुलाला बाहेरगावी शिकवण्यासाठी वर्षाला 50,000 ते 1 लाख खर्च येतो. अशा वेळी कुटुंब प्राधान्य मुलाला देते. मुलीसाठी फी, हॉस्टेल, बस पास हा अतिरिक्त भार वाटतो.

3. भौगोलिक व पायाभूत आव्हाने:-

UGC च्या अहवालानुसार भारतातील 60% महाविद्यालये शहरी भागात आहेत. ग्रामीण मुलीला पदवीसाठी 10 ते 30 किमी प्रवास करावा लागतो. ST बसची अनियमितता, रस्त्यांची दुर्दशा, आणि महाविद्यालयात स्वच्छतागृह, मुलींचे वसतिगृह नसणे हे मोठे अडथळे आहेत.

4. मानसिक व कौटुंबिक आव्हाने :-

जास्त शिकली तर लग्नासाठी स्थळ मिळणार नाही', 'नोकरी करणारी मुलगी घर सांभाळू शकत नाही' - अशा समजुती आजही आहेत. तसेच पहिल्या पिढीतील शिकणाऱ्या मुलींना (First Generation Learner) घरी अभ्यासासाठी मार्गदर्शन मिळत नाही.

5. डिजिटल डिवाईड :-

कोविड-19 नंतर शिक्षण ऑनलाईन झाले, पण ग्रामीण भागात स्मार्टफोन, इंटरनेट, लॅपटॉप अजूनही
70% कुटुंबांकडे नाही. त्यामुळे ग्रामीण मुली डिजिटल शिक्षणात मागे पडल्या.

शासनाच्या योजना :

7. बेटी बचाव बेटी पढाओ:* जनजागृतीसाठी चांगली योजना, पण फक्त घोषणेबाजी.
8. शिष्यवृत्ती योजना:* राजर्षी शाहू महाराज शिष्यवृत्ती, सावित्रीबाई फुले शिष्यवृत्ती - पण वेळेवर जमा न होणे, कागदपत्रांची जटिलता.
9. मोफत बस सेवा:* महाराष्ट्रात मुलींना मोफत ST पास योजना आहे, पण बसेसची संख्या अपुरी.
10. मुलींची वसतिगृहे:* RUSA अंतर्गत प्रत्येक तालुक्यात मुलींचे वसतिगृह प्रस्तावित आहे, पण नागपूर विभागातील 6 जिल्ह्यांमध्ये फक्त 12 सरकारी वसतिगृहे आहेत, ज्यात 80% जागा भरलेल्या नाहीत - माहितीचा अभाव.
11. NEP 2020:* नवीन शैक्षणिक धोरणात मुलींच्या शिक्षणासाठी विशेष तरतूद आहे, पण त्याची अंमलबजावणी 2030 पर्यंत अपेक्षित आहे.

उपाय व शिफारसी :-

1. गाव पातळीवर समुपदेशन:* अंगणवाडी सेविका, बचत गटाच्या माध्यमातून पालकांचे प्रबोधन करणे.
2. प्रत्येक तालुक्यात महिला महाविद्यालय:* किमान BA, <http://B.Sc>, <http://B.Com> चे अद्ययावत महाविद्यालय प्रत्येक तालुक्यात हवे.
3. व्यावसायिक शिक्षण:* ग्रामीण मुलींना नर्सिंग, कृषी, शिक्षण शास्त्र (D.Ed, <http://B.Ed>) सारख्या रोजगाराभिमुख अभ्यासक्रमात प्रवेशासाठी विशेष कोटा.
4. सुरक्षित प्रवास व निवास:* प्रत्येक जिल्ह्यात 500 क्षमतेचे सुसज्ज मुलींचे वसतिगृह आणि तालुका ते महाविद्यालय थेट बस सेवा.
5. डिजिटल साक्षरता:* गावातील ग्रंथालयात मोफत इंटरनेट व कॉम्प्युटर लॅब.

निष्कर्ष :-

ग्रामीण महिलांचे उच्च शिक्षण हे केवळ पदवी मिळवणे नाही, तर ग्रामीण भारताच्या आर्थिक व सामाजिक परिवर्तनाचा मार्ग आहे. जेव्हा ग्रामीण मुलगी उच्च शिक्षित होते, तेव्हा ती फक्त स्वतःचे कुटुंबच नाही तर संपूर्ण गावाचा विकास घडवते. आकडेवारी सांगते की इच्छा असूनही संधी न

मिळाल्याने हजारो मुली 12 वी नंतर शिक्षण सोडतात. त्यामुळे शासन, समाज आणि कुटुंब या तिघांनी एकत्र येऊन 'पहिले शिक्षण, मग विवाह' हा नारा रुजवणे आवश्यक आहे.

ग्रामीण महिलांना उच्च शिक्षणाच्या प्रवाहात आणणे म्हणजे भारताला खऱ्या अर्थाने महासत्ता बनवणे होय.

संदर्भ सूची :-

1. All India Survey on Higher Education (AISHE) Report 2021-22, Ministry of Education, GOI.
2. Census of India 2011, Gender and Literacy Data.
3. UGC Annual Report 2022-23.
4. NEP 2020 - Gender Inclusion Fund.
5. महाराष्ट्र आर्थिक पाहणी अहवाल 2023-24
6. गंगणे वर्षा 'स्त्री सक्षमीकरण: दशा व दिशा, साईज्योती प्रकाशन

ग्रामीण महिलांच्या सामाजिक व आर्थिक सशक्तीकरणामध्ये डिजिटल बँकिंगची भूमिका : एक अभ्यास

प्रा.मनोज बंडू सोंदरकर

वाणिज्य विभाग

दादा पाटील महाविद्यालय, कर्जत, जि.अहिल्यानगर, महाराष्ट्र

सारांश :

भारताच्या ग्रामीण भागातील महिलांच्या सामाजिक व आर्थिक सशक्तीकरणासाठी वित्तीय समावेशन अत्यंत महत्वाचे आहे. पारंपरिक बँकिंग व्यवस्थेतील भौगोलिक अंतर, आर्थिक मर्यादा, माहितीचा अभाव आणि सामाजिक अडथळे यांमुळे ग्रामीण महिलांना दीर्घकाळ औपचारिक वित्तीय सेवांपासून मर्यादित प्रवेश मिळत होता. डिजिटल तंत्रज्ञानाच्या प्रसारामुळे मोबाइल बँकिंग, इंटरनेट बँकिंग, UPI, RuPay कार्ड, आधार-सक्षम पेमेंट प्रणाली आणि डिजिटल थेट लाभ हस्तांतरण यांसारख्या सुविधांमुळे ही परिस्थिती बदलत आहे.

प्रधानमंत्री जन-धन योजना ही वित्तीय समावेशनासाठी महत्वाची योजना असून तिच्या माध्यमातून बचत खाते, कर्ज, विमा, पेन्शन आणि सरकारी लाभांपर्यंत प्रवेश उपलब्ध करून देण्याचा प्रयत्न केला जात आहे. 19 ऑगस्ट 2026 च्या अधिकृत आकडेवारीनुसार PMJDY अंतर्गत एकूण 59.09 कोटी लाभार्थी असून त्यापैकी 32.92 कोटी महिला लाभार्थी आहेत.

सदर संशोधनामध्ये ग्रामीण महिलांच्या आर्थिक स्वावलंबनात डिजिटल बँकिंगची भूमिका, त्याचे फायदे, सामाजिक परिणाम आणि वापरातील अडचणी यांचा अभ्यास करण्यात आला आहे. अभ्यासातून असे दिसून येते की डिजिटल बँकिंगमुळे महिलांना स्वतःच्या आर्थिक व्यवहारांवर अधिक नियंत्रण मिळण्यास, बचतीची सवय वाढण्यास, सरकारी योजनांचा लाभ थेट मिळण्यास आणि लघुउद्योजकतेला चालना मिळण्यास मदत होऊ शकते. मात्र डिजिटल साक्षरता, इंटरनेट कनेक्टिव्हिटी, सायबर फसवणूक आणि तांत्रिक ज्ञानाचा अभाव या समस्या दूर करणे आवश्यक आहे.

की-वर्ड्स : डिजिटल बँकिंग, ग्रामीण महिला, सामाजिक सशक्तीकरण, आर्थिक सशक्तीकरण, वित्तीय समावेशन, डिजिटल साक्षरता, PMJDY.

प्रस्तावना :

भारत हा ग्रामीण लोकसंख्या मोठ्या प्रमाणात असलेला देश आहे. ग्रामीण अर्थव्यवस्थेत महिलांचे योगदान शेती, पशुपालन, घरगुती उद्योग, स्वयं-सहायता गट, किरकोळ व्यवसाय आणि विविध सेवा क्षेत्रांमध्ये महत्त्वपूर्ण आहे. तथापि, आर्थिक निर्णयप्रक्रियेत महिलांचा सहभाग अनेकदा मर्यादित राहतो. आर्थिक सशक्तीकरण म्हणजे व्यक्तीला उत्पन्न मिळविणे, बचत करणे, कर्ज घेणे, गुंतवणूक करणे आणि स्वतःच्या आर्थिक निर्णयांमध्ये सहभागी होण्याची क्षमता प्राप्त होणे. डिजिटल बँकिंगमुळे या प्रक्रियेला नवीन दिशा मिळाली आहे. भारत सरकारच्या प्रधानमंत्री जन-धन योजनेचा उद्देश समाजातील वंचित व कमी उत्पन्न गटांना बँकिंग, कर्ज, विमा, पेन्शन आणि इतर वित्तीय सेवांपर्यंत परवडणाऱ्या पद्धतीने प्रवेश उपलब्ध करून देणे हा आहे. डिजिटल बँकिंग आणि वित्तीय समावेशन यांचा विस्तार झाल्यामुळे ग्रामीण महिलांना बँकेच्या शाखेत वारंवार जाण्याची आवश्यकता कमी झाली असून मोबाइल फोन आणि डिजिटल माध्यमांद्वारे अनेक आर्थिक व्यवहार करणे शक्य झाले आहे.

समस्या निवेदन

ग्रामीण महिलांना आर्थिकदृष्ट्या सक्षम करण्यासाठी विविध सरकारी योजना राबविल्या जात असल्या तरी अनेक महिलांना त्यांचा पूर्ण लाभ मिळत नाही. डिजिटल बँकिंगची सुविधा उपलब्ध असूनही डिजिटल साक्षरतेचा अभाव, इंटरनेटची समस्या, तांत्रिक अडचणी, सायबर फसवणुकीची भीती आणि डिजिटल व्यवहारांवरील मर्यादित विश्वास यामुळे महिलांचा वापर अपेक्षित प्रमाणात होत नाही. त्यामुळे पुढील प्रश्न निर्माण होतो :

“डिजिटल बँकिंग ग्रामीण महिलांच्या सामाजिक व आर्थिक सशक्तीकरणास कितपत मदत करते?”

अभ्यासाची उद्दिष्टे

1. ग्रामीण महिलांमधील डिजिटल बँकिंगच्या वापराचा अभ्यास करणे.
2. डिजिटल बँकिंगमुळे महिलांच्या आर्थिक स्वावलंबनात होणाऱ्या बदलांचा अभ्यास करणे.
3. वित्तीय समावेशनामध्ये डिजिटल बँकिंगची भूमिका स्पष्ट करणे.
4. ग्रामीण महिलांना डिजिटल बँकिंगमुळे मिळणारे फायदे जाणून घेणे.
5. डिजिटल बँकिंग वापरताना येणाऱ्या अडचणींचा अभ्यास करणे.
6. ग्रामीण महिलांमध्ये डिजिटल आर्थिक साक्षरता वाढविण्यासाठी उपाय सुचविणे.

संशोधन गृहीतके

H_0 : डिजिटल बँकिंगचा ग्रामीण महिलांच्या आर्थिक सशक्तीकरणावर लक्षणीय परिणाम होत नाही.

H_1 : डिजिटल बँकिंगचा ग्रामीण महिलांच्या आर्थिक सशक्तीकरणावर लक्षणीय सकारात्मक परिणाम होतो.

संशोधन पद्धती

सदर अभ्यासासाठी वर्णनात्मक व विश्लेषणात्मक संशोधन पद्धतीचा वापर करण्यात आला आहे. माहितीचे स्रोत

प्राथमिक माहिती : ग्रामीण महिला, स्वयं-सहायता गटातील सदस्य आणि डिजिटल बँकिंग वापरणाऱ्या महिलांकडून प्रश्नावली/मुलाखतीद्वारे माहिती संकलित करता येईल.

दुय्यम माहिती : भारत सरकार, वित्तीय सेवा विभाग, प्रधानमंत्री जन-धन योजना, भारतीय रिझर्व्ह बँक, NABARD, संशोधन लेख, पुस्तके, अहवाल आणि संबंधित संकेतस्थळांवरील माहितीचा वापर करण्यात आला आहे.

डिजिटल बँकिंग : संकल्पना

डिजिटल बँकिंग म्हणजे इंटरनेट, मोबाइल फोन, डिजिटल पेमेंट प्रणाली, ATM, RuPay कार्ड, UPI आणि इतर इलेक्ट्रॉनिक माध्यमांच्या साहाय्याने बँकिंग सेवा उपलब्ध करून देणे.

यामध्ये प्रामुख्याने पुढील सेवांचा समावेश होतो :

मोबाइल बँकिंग, इंटरनेट बँकिंग, UPI व्यवहार, ATM सेवा, RuPay कार्ड, डिजिटल निधी हस्तांतरण, बिल पेमेंट, डिजिटल खाते शिल्लक तपासणी, DBT द्वारे सरकारी लाभ, डिजिटल कर्ज व विमा सेवा

प्रधानमंत्री जन-धन योजना आणि महिला सशक्तीकरण

प्रधानमंत्री जन-धन योजना ही राष्ट्रीय वित्तीय समावेशनाची महत्त्वाची योजना आहे. या योजनेत मूलभूत बचत खाते, पैसे हस्तांतरण, कर्ज, विमा आणि पेन्शन यांसारख्या वित्तीय सेवांचा समावेश आहे.

19 ऑगस्ट 2026 रोजीच्या अधिकृत PMJDY आकडेवारीनुसार :

घटक	संख्या
एकूण लाभार्थी	59.09 कोटी
ग्रामीण/अर्धशहरी केंद्रांतील लाभार्थी	45.95 कोटी
शहरी/मेट्रो केंद्रांतील लाभार्थी	13.14 कोटी

महिला लाभार्थी	32.92 कोटी
जारी केलेली RuPay कार्ड	42.29 कोटी

ही आकडेवारी ग्रामीण व निम्न उत्पन्न गटातील महिलांच्या वित्तीय समावेशनाच्या वाढत्या महत्वाचे द्योतक आहे.

ग्रामीण महिलांच्या आर्थिक सशक्तीकरणामध्ये डिजिटल बँकिंगची भूमिका

1. स्वतःचे बँक खाते स्वतःच्या नावावर बँक खाते असल्यामुळे महिलांना त्यांच्या उत्पन्नाची व बचतीची अधिक स्वतंत्रपणे हाताळणी करता येते.
2. बचतीला प्रोत्साहन डिजिटल बँकिंगमुळे महिलांना नियमितपणे छोटी-छोटी रक्कम बचत खात्यात जमा करणे सोपे होते.
3. सरकारी योजनांचा थेट लाभ DBT प्रणालीमुळे विविध सरकारी योजनांचे लाभ थेट लाभार्थ्यांच्या बँक खात्यात जमा करता येतात. PMJDY खात्यांना DBT आणि विविध सामाजिक सुरक्षा योजनांशी जोडण्याची सुविधा उपलब्ध आहे.
4. स्वयं-सहायता गटांना मदतग्रामीण महिलांच्या स्वयं-सहायता गटांना डिजिटल बँकिंगमुळे बचत, कर्ज व्यवहार आणि निधी हस्तांतरण अधिक सुलभपणे करता येते.
5. लघुउद्योजकतेला चालना डिजिटल पेमेंट स्वीकारण्याची सुविधा उपलब्ध झाल्यामुळे ग्रामीण महिला घरगुती उद्योग, खाद्यपदार्थ, हस्तकला, किरकोळ विक्री आणि इतर व्यवसायांमध्ये सहभागी होऊ शकतात.
6. आर्थिक निर्णयक्षमता स्वतःच्या बँक खात्याचा आणि डिजिटल व्यवहारांचा वापर वाढल्यामुळे महिलांचा आर्थिक निर्णय प्रक्रियेतील सहभाग वाढण्याची शक्यता असते.

सामाजिक सशक्तीकरणातील योगदान

डिजिटल बँकिंगचा परिणाम केवळ आर्थिक क्षेत्रापुरता मर्यादित राहत नाही. आर्थिक स्वावलंबनामुळे महिलांचा कुटुंबातील निर्णयप्रक्रियेत सहभाग वाढू शकतो.

डिजिटल बँकिंगमुळे :

महिलांचा आत्मविश्वास वाढू शकतो., आर्थिक व्यवहारांबाबत ज्ञान वाढते., कुटुंबातील आर्थिक निर्णयांमध्ये सहभाग वाढतो., सरकारी योजनांची माहिती मिळण्यास मदत होते., उद्योजकतेस प्रोत्साहन मिळते., आर्थिक स्वावलंबनाची भावना निर्माण होते.

डिजिटल बँकिंगचे प्रमुख फायदे

1. बँकिंग सेवा 24×7 उपलब्ध होण्याची शक्यता.
2. व्यवहारांमध्ये वेळेची बचत.
3. रोख रकमेवरील अवलंबित्व कमी.
4. सरकारी लाभ थेट खात्यात मिळणे.
5. व्यवहारांचा डिजिटल पुरावा उपलब्ध होणे.
6. बचत व आर्थिक नियोजनास प्रोत्साहन.
7. ग्रामीण उद्योजकतेला चालना.
8. महिलांच्या आर्थिक स्वायत्ततेत वाढ.

RBI च्या वित्तीय समावेशन धोरणात डिजिटल पायाभूत सुविधांना व्यापक वित्तीय सेवा उपलब्धतेसाठी महत्वाचे मानले आहे.

ग्रामीण महिलांना येणाऱ्या अडचणी

डिजिटल बँकिंगचा विस्तार होत असला तरी पुढील अडचणी महत्वाच्या आहेत :

1. डिजिटल साक्षरतेचा अभाव स्मार्टफोन आणि डिजिटल ॲप्सचा वापर करण्याचे पुरेसे ज्ञान अनेक महिलांकडे नसते.
2. इंटरनेट कनेक्टिव्हिटी ग्रामीण भागातील काही ठिकाणी इंटरनेटची गुणवत्ता आणि उपलब्धता अजूनही समस्या ठरू शकते.
3. सायबर फसवणूक OTP, PIN, UPI आणि बनावट लिंकद्वारे होणाऱ्या फसवणुकीबाबत जागरूकतेचा अभाव धोका निर्माण करू शकतो.
4. भाषेची समस्या अनेक डिजिटल बँकिंग सेवा वापरताना स्थानिक भाषेतील सोपी माहिती उपलब्ध असणे आवश्यक आहे.
5. डिजिटल व्यवहारावरील विश्वासाचा अभाव काही महिलांना रोख व्यवहार अधिक सुरक्षित वाटतात.
6. तांत्रिक अडचणी मोबाइल, नेटवर्क, ॲप किंवा प्रमाणीकरणातील अडचणींमुळे व्यवहार अपयशी होऊ शकतात.

महिलांच्या डिजिटल आर्थिक साक्षरतेसाठी उपाय

1. प्रत्येक गावात डिजिटल आर्थिक साक्षरता कार्यक्रम आयोजित करावेत.

2. स्वयं-सहायता गटांच्या माध्यमातून प्रशिक्षण द्यावे.
3. मराठी व स्थानिक भाषांमध्ये प्रशिक्षण साहित्य उपलब्ध करावे.
4. UPI, ATM, मोबाइल बँकिंग आणि सायबर सुरक्षा यांचे प्रात्यक्षिक प्रशिक्षण द्यावे.
5. महिलांसाठी विशेष डिजिटल बँकिंग शिबिरे आयोजित करावीत.
6. बँक मित्र/Business Correspondent यांच्या माध्यमातून मार्गदर्शन वाढवावे.
7. डिजिटल फसवणुकीपासून संरक्षणाबाबत जनजागृती करावी.
8. ग्रामीण भागातील इंटरनेट व डिजिटल पायाभूत सुविधा मजबूत कराव्यात.
9. महिला उद्योजकांना डिजिटल पेमेंट स्वीकारण्यास प्रोत्साहन द्यावे.
10. महाविद्यालये, स्वयंसेवी संस्था आणि बँकांनी संयुक्तपणे डिजिटल साक्षरता अभियान राबवावे.

प्रमुख निष्कर्ष

अभ्यासाच्या आधारे पुढील निष्कर्ष मांडता येतात :

1. डिजिटल बँकिंग हे ग्रामीण महिलांच्या वित्तीय समावेशनाचे प्रभावी साधन ठरू शकते.
2. स्वतःच्या बँक खात्यामुळे महिलांची आर्थिक ओळख आणि आर्थिक सहभाग वाढतो.
3. डिजिटल व्यवहारांमुळे महिलांना आर्थिक व्यवहार अधिक सुलभपणे करता येतात.
4. PMJDY सारख्या योजनांनी बँकिंग व्यवस्थेशी जोडलेल्या महिलांची संख्या मोठ्या प्रमाणात वाढवली आहे.
5. डिजिटल बँकिंगमुळे सरकारी लाभांच्या हस्तांतरणात पारदर्शकता वाढण्यास मदत होते.
6. डिजिटल वित्तीय सेवांचा वापर महिलांच्या लघुउद्योजकतेला मदत करू शकतो.
7. डिजिटल साक्षरतेचा अभाव हा महत्वाचा अडथळा आहे.
8. सायबर सुरक्षा आणि डिजिटल फसवणुकीबाबत प्रशिक्षण आवश्यक आहे.
9. डिजिटल बँकिंगचा सामाजिक सशक्तीकरणाशीही सकारात्मक संबंध निर्माण होऊ शकतो.
10. डिजिटल बँकिंगचा पूर्ण लाभ मिळण्यासाठी तंत्रज्ञानाबरोबरच आर्थिक व डिजिटल साक्षरता आवश्यक आहे.

सूचना

ग्रामीण महिलांच्या डिजिटल आणि आर्थिक सशक्तीकरणासाठी शासन, बँका, शैक्षणिक संस्था आणि स्वयंसेवी संस्थांनी संयुक्त प्रयत्न करणे आवश्यक आहे. प्रत्येक ग्रामीण महिलेला केवळ बँक खाते उपलब्ध करून देणे पुरेसे नाही; त्या खात्याचा सुरक्षित व प्रभावी वापर करण्याचे ज्ञान देणेही तितकेच महत्वाचे आहे. महिलांसाठी गावपातळीवर “Digital Financial Literacy Centre” किंवा प्रशिक्षण केंद्रांची निर्मिती करता येईल. स्वयं-सहायता गटांना डिजिटल व्यवहार, ऑनलाइन पेमेंट, बचत, विमा, कर्ज आणि सायबर सुरक्षा याबाबत नियमित प्रशिक्षण देणे आवश्यक आहे.

निष्कर्ष

ग्रामीण महिलांचे सशक्तीकरण हे भारताच्या सर्वसमावेशक विकासासाठी अत्यंत आवश्यक आहे. आर्थिक स्वावलंबनाशिवाय सामाजिक सशक्तीकरण पूर्ण होऊ शकत नाही. डिजिटल बँकिंग ग्रामीण महिलांना औपचारिक वित्तीय व्यवस्थेशी जोडण्याचे प्रभावी माध्यम ठरू शकते. प्रधानमंत्री जन-धन योजना, डिजिटल पेमेंट व्यवस्था, मोबाइल बँकिंग आणि DBT यांसारख्या उपक्रमांमुळे महिलांना वित्तीय सेवांपर्यंत पोहोचण्याच्या नवीन संधी निर्माण झाल्या आहेत. PMJDY च्या 19 ऑगस्ट 2026 च्या आकडेवारीमध्ये 32.92 कोटी महिला लाभार्थी नोंदवल्या गेल्या आहेत, ज्यातून महिलांचा वित्तीय समावेशनातील मोठा सहभाग स्पष्ट होतो. तथापि, केवळ तंत्रज्ञान उपलब्ध करून देणे पुरेसे नाही. डिजिटल साक्षरता, सुरक्षित डिजिटल व्यवहार, विश्वासार्ह इंटरनेट सुविधा आणि स्थानिक भाषेतील मार्गदर्शन या बाबींवरही लक्ष देणे आवश्यक आहे.

म्हणूनच “डिजिटल बँकिंग + वित्तीय साक्षरता + डिजिटल सुरक्षा + महिला उद्योजकता” या चौकटीच्या माध्यमातून ग्रामीण महिलांचे आर्थिक आणि सामाजिक सशक्तीकरण अधिक प्रभावीपणे साध्य करता येईल.

संदर्भसूची

1. Department of Financial Services, Ministry of Finance, Government of India. Pradhan Mantri Jan-Dhan Yojana – Progress Report.
2. Department of Financial Services, Ministry of Finance, Government of India. Pradhan Mantri Jan-Dhan Yojana – Scheme Details.
3. Reserve Bank of India. National Strategy for Financial Inclusion.
4. Government of India, Department of Financial Services. Pradhan Mantri Jan-Dhan Yojana – About the Scheme.
5. Reserve Bank of India. Annual Reports and Financial Inclusion Reports.
6. NABARD. Reports on Financial Inclusion and Rural Development.

अटल बिहारी वाजपेयी का नेतृत्व एवं भारत के राष्ट्र-निर्माण में योगदान

डॉ अंजू चौधरी
सहायक प्रवक्ता,
समाजशास्त्र विभाग,
शांतिनिकेतन ग्रुप आफ इंस्टीट्यूशंस मेरठ

लक्ष्मी गोयल
शोध छात्रा, शिक्षा विभाग,
महाराजा अग्रसेन हिमालयन गढ़वाल
विश्वविद्यालय उत्तराखंड

सारांश

अटल बिहारी वाजपेयी स्वतंत्र भारत के राजनीतिक इतिहास के ऐसे विशिष्ट नेता थे जिनके व्यक्तित्व और नेतृत्व ने भारतीय राजनीति, शासन, राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक विकास तथा विदेश नीति पर गहरा प्रभाव डाला। वे केवल एक राजनेता और प्रधानमंत्री ही नहीं थे, बल्कि प्रखर वक्ता, पत्रकार, चिंतक और संवेदनशील कवि भी थे। उनका राजनीतिक जीवन भारतीय लोकतंत्र के विकास के विभिन्न चरणों से जुड़ा रहा। लंबे समय तक विपक्ष में रहने के बाद उन्होंने प्रधानमंत्री के रूप में गठबंधन सरकार का नेतृत्व किया और भारतीय राजनीति में सहमति, संवाद तथा सहयोग की संस्कृति को मजबूत करने का प्रयास किया। भारत सरकार के आधिकारिक जीवन-वृत्त के अनुसार वे नौ बार लोकसभा और दो बार राज्यसभा के सदस्य रहे तथा तीन बार भारत के प्रधानमंत्री बने।

प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व की प्रकृति तथा भारत के राष्ट्र-निर्माण में उनके योगदान का विश्लेषण करना है। अध्ययन मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। इसमें उनके प्रधानमंत्री कार्यकाल के दौरान राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक विकास, आधारभूत संरचना, दूरसंचार, शिक्षा, ग्रामीण विकास, विदेश नीति और प्रशासनिक दृष्टिकोण का अध्ययन किया गया है। विशेष रूप से 1998 के पोखरण परमाणु परीक्षण, स्वर्णिम चतुर्भुज परियोजना, प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, लाहौर बस यात्रा, कारगिल युद्ध के दौरान नेतृत्व तथा गठबंधन राजनीति को राष्ट्र-निर्माण के व्यापक संदर्भ में देखा गया है।

वाजपेयी के नेतृत्व की प्रमुख विशेषता यह थी कि उन्होंने राष्ट्रीय हित और राजनीतिक व्यावहारिकता के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। उनका राष्ट्र-निर्माण का दृष्टिकोण केवल आर्थिक विकास तक सीमित नहीं था, बल्कि इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा, सामाजिक एकता, लोकतांत्रिक संस्थाओं की मजबूती, आधारभूत संरचना, तकनीकी प्रगति और भारत की अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी सम्मिलित थी। उनके कवि व्यक्तित्व ने उनके राजनीतिक विचारों में मानवीय संवेदना और आशावाद का आयाम जोड़ा। *आओ फिर से दिया जलाएँ* जैसी कविता में दिखाई देने वाली पुनर्निर्माण और आशा की भावना तथा *जंग न होने देंगे* में व्यक्त शांति की आकांक्षा को उनके राष्ट्र-निर्माण और विदेश नीति संबंधी दृष्टिकोण से जोड़कर समझा जा सकता है।

अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि अटल बिहारी वाजपेयी का नेतृत्व भारतीय राष्ट्र-निर्माण की उस प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें विकास, राष्ट्रीय सुरक्षा, लोकतांत्रिक संवाद, राजनीतिक सहमति और अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा को परस्पर संबद्ध माना गया।

मुख्य शब्द: अटल बिहारी वाजपेयी, नेतृत्व, राष्ट्र-निर्माण, भारतीय लोकतंत्र, विकास, राष्ट्रीय सुरक्षा, विदेश नीति, आधारभूत संरचना, गठबंधन राजनीति, सामाजिक एकता।

प्रस्तावना

राष्ट्र-निर्माण किसी भी आधुनिक राष्ट्र के लिए एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के सामने केवल राजनीतिक स्वतंत्रता को बनाए रखने की चुनौती नहीं थी, बल्कि एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना भी आवश्यक था जो आर्थिक रूप से सक्षम, सामाजिक रूप से समावेशी, राजनीतिक रूप से स्थिर और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित हो। लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना, आर्थिक विकास, राष्ट्रीय एकता, सामाजिक समरसता, सुरक्षा और आधुनिक तकनीकी क्षमता—इन सभी ने भारत के राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित किया।

स्वतंत्र भारत में अनेक राजनीतिक नेताओं ने राष्ट्र-निर्माण में योगदान दिया। अटल बिहारी वाजपेयी का स्थान इस संदर्भ में विशेष है क्योंकि उनका राजनीतिक जीवन विपक्ष और सत्ता दोनों के अनुभवों से निर्मित हुआ। उन्होंने संसद में विपक्ष की भूमिका निभाई, विदेश मंत्री के रूप में अंतरराष्ट्रीय राजनीति को समझा और अंततः प्रधानमंत्री के रूप में देश का नेतृत्व किया।

वाजपेयी का प्रधानमंत्री के रूप में कार्यकाल तीन अलग-अलग चरणों में रहा। 1996 में उनका पहला प्रधानमंत्री कार्यकाल अल्पकालिक था। इसके बाद 1998 में उन्होंने पुनः प्रधानमंत्री पद संभाला और 1999 में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के नेतृत्व में सरकार बनाई, जिसने अपना कार्यकाल पूरा किया। भारत सरकार के अनुसार 1998 से 2004 के दौरान उनके नेतृत्व में भारत ने अनेक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय चुनौतियों का सामना किया।

वाजपेयी का नेतृत्व ऐसे समय में सामने आया जब भारतीय राजनीति में गठबंधन का दौर मजबूत हो रहा था। केंद्र में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त करना कठिन हो रहा था और विभिन्न क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। ऐसे राजनीतिक वातावरण में विभिन्न दलों को साथ लेकर सरकार चलाना अपने आप में नेतृत्व की बड़ी चुनौती थी।

उनकी नेतृत्व शैली का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि उन्होंने राजनीतिक मतभेदों के बावजूद संवाद और सहयोग की संभावना बनाए रखने का प्रयास किया। उनका नेतृत्व केवल पार्टी संगठन या चुनावी राजनीति तक सीमित नहीं रहा बल्कि राष्ट्रीय मुद्दों पर व्यापक सहमति बनाने का प्रयास भी करता रहा। राष्ट्र-निर्माण के संदर्भ में वाजपेयी के योगदान को राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक विकास, आधारभूत संरचना, ग्रामीण संपर्क, दूरसंचार, विदेश नीति और सामाजिक विकास जैसे विभिन्न क्षेत्रों में देखा जा सकता है। 1998 के परमाणु परीक्षणों ने भारत की रणनीतिक नीति को नया आयाम दिया, जबकि स्वर्णिम चतुर्भुज जैसी परियोजनाओं ने देश की परिवहन व्यवस्था और आर्थिक संपर्क को मजबूत करने का प्रयास किया। इस प्रकार वाजपेयी के नेतृत्व का अध्ययन केवल उनके प्रधानमंत्री कार्यकाल की उपलब्धियों का वर्णन नहीं है। यह इस बात को समझने का प्रयास भी है कि एक लोकतांत्रिक नेता किस प्रकार बदलते राजनीतिक, आर्थिक और अंतरराष्ट्रीय परिवेश में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को दिशा देने का प्रयास करता है।

अध्ययन के उद्देश्य

इस शोध-पत्र के दो प्रमुख उद्देश्य हैं-

1. अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व की प्रमुख विशेषताओं तथा उनके प्रधानमंत्री कार्यकाल की राष्ट्रीय नीतियों का विश्लेषण करना।
2. भारत के राष्ट्र-निर्माण में अटल बिहारी वाजपेयी के विकासात्मक, राजनीतिक, सामरिक और कूटनीतिक योगदान का अध्ययन करना।

शोध-पद्धति:

प्रस्तुत अध्ययन द्वितीयक स्रोतों पर आधारित वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन है। अध्ययन के लिए सरकारी अभिलेखों, प्रधानमंत्री कार्यालय की आधिकारिक सामग्री, प्रकाशित पुस्तकों, अटल बिहारी वाजपेयी के भाषणों एवं लेखन तथा उनके राजनीतिक और साहित्यिक व्यक्तित्व से संबंधित उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है। अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति के माध्यम से उनके राजनीतिक जीवन और प्रधानमंत्री कार्यकाल को समझने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से उनकी नीतियों और राष्ट्र-निर्माण के बीच संबंधों को समझा गया है।

अटल बिहारी वाजपेयी: नेतृत्व की पृष्ठभूमि

अटल बिहारी वाजपेयी का जन्म 25 दिसंबर 1924 को ग्वालियर में हुआ। उनका प्रारंभिक जीवन शिक्षा और साहित्यिक वातावरण से प्रभावित रहा। उन्होंने राजनीति शास्त्र का अध्ययन किया और पत्रकारिता से भी जुड़े। वर्ष 1951 में वे भारतीय जनसंघ से जुड़े और धीरे-धीरे राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख स्थान प्राप्त किया।

उनका संसदीय जीवन अत्यंत लंबा रहा। वे अनेक बार लोकसभा तथा राज्यसभा के सदस्य रहे। उनकी वक्तृत्व क्षमता, राजनीतिक समझ और संसदीय अनुभव ने उन्हें राष्ट्रीय स्तर पर विशिष्ट पहचान दिलाई। उनकी नेतृत्व क्षमता का निर्माण केवल सत्ता में रहते हुए नहीं हुआ। लंबे समय तक विपक्ष में रहने के कारण उन्हें सरकार की नीतियों की आलोचना करने, वैकल्पिक दृष्टिकोण रखने और संसद में राष्ट्रीय मुद्दों को उठाने का अनुभव प्राप्त हुआ।

यही अनुभव बाद में प्रधानमंत्री के रूप में उनके नेतृत्व में दिखाई दिया। सत्ता में आने के बाद भी उन्होंने विपक्ष तथा राजनीतिक सहयोगियों के साथ संवाद को महत्व दिया।

अटल बिहारी वाजपेयी की नेतृत्व शैली

वाजपेयी की नेतृत्व शैली को **दृढ़ता, संवाद, सहमति और व्यावहारिकता** के समन्वय के रूप में समझा जा सकता है।

एक ओर वे राष्ट्रीय सुरक्षा के मामलों में कठोर निर्णय लेने के लिए जाने जाते हैं, वहीं दूसरी ओर वे राजनीतिक सहयोगियों तथा विरोधी दलों के साथ संवाद बनाए रखने के पक्षधर थे। गठबंधन सरकार का नेतृत्व करते समय यह क्षमता विशेष रूप से महत्वपूर्ण थी।

उनके नेतृत्व की दूसरी विशेषता थी कि वे राजनीतिक मतभेद को व्यक्तिगत शत्रुता में बदलने से बचने का प्रयास करते थे। संसदीय राजनीति में उनके लंबे अनुभव ने उन्हें यह समझ दी कि लोकतंत्र में स्थायी रूप से कोई भी दल सत्ता में नहीं रहता और इसलिए लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा राजनीतिक संवाद की रक्षा आवश्यक है।

उनका नेतृत्व भावनात्मक भाषण और व्यावहारिक राजनीति के बीच संतुलन का उदाहरण भी था। उनकी भाषा में राष्ट्र और समाज के प्रति भावनात्मक जुड़ाव दिखाई देता था, जबकि शासन में वे व्यावहारिक नीतियों और संस्थागत निर्णयों पर जोर देते थे।

गठबंधन राजनीति और राष्ट्र-निर्माण

वाजपेयी के नेतृत्व की सबसे बड़ी राजनीतिक चुनौतियों में से एक गठबंधन सरकार चलाना था। 1990 के दशक में भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बढ़ रहा था। ऐसी स्थिति में केंद्र सरकार को अनेक राजनीतिक दलों के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता था।

वाजपेयी ने राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का नेतृत्व करते हुए विभिन्न दलों को साथ लेकर सरकार चलाने का प्रयास किया। गठबंधन राजनीति में नीति निर्माण केवल एक दल के विचारों पर आधारित नहीं होता बल्कि विभिन्न सहयोगी दलों के बीच सहमति आवश्यक होती है।

यह प्रक्रिया राष्ट्र-निर्माण के संदर्भ में महत्वपूर्ण थी क्योंकि इससे भारत की क्षेत्रीय और राजनीतिक विविधता को राष्ट्रीय शासन में स्थान मिला। वाजपेयी की नेतृत्व शैली ने यह दिखाया कि लोकतांत्रिक राष्ट्र-निर्माण में राजनीतिक विविधता बाधा मात्र नहीं है; संवाद और सहमति के माध्यम से उसे शासन की शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है।

राष्ट्रीय सुरक्षा और पोखरण परमाणु परीक्षण

वाजपेयी सरकार की सबसे महत्वपूर्ण नीतिगत घटनाओं में 1998 के पोखरण परमाणु परीक्षण शामिल हैं। मई 1998 में भारत ने परमाणु परीक्षण किए। इन परीक्षणों ने भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा और रणनीतिक नीति को नया आयाम दिया।

इस निर्णय के पीछे राष्ट्रीय सुरक्षा और रणनीतिक स्वायत्तता का प्रश्न महत्वपूर्ण था। भारत अपने सुरक्षा हितों के संबंध में स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता को बनाए रखना चाहता था। परमाणु परीक्षणों के बाद भारत को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आलोचना और प्रतिबंधों का सामना करना पड़ा। इसके बावजूद वाजपेयी सरकार ने अपने निर्णय को राष्ट्रीय सुरक्षा के दृष्टिकोण से उचित ठहराया।

राष्ट्र-निर्माण के संदर्भ में इसका महत्व इस बात में था कि वाजपेयी ने राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा को केवल आर्थिक शक्ति तक सीमित नहीं रखा। उनके दृष्टिकोण में सुरक्षा और रणनीतिक क्षमता भी मजबूत राष्ट्र के आवश्यक तत्व थे।

हालाँकि इस नीति के आलोचनात्मक पक्षों—जैसे अंतरराष्ट्रीय दबाव, आर्थिक प्रभाव और क्षेत्रीय सुरक्षा पर इसके प्रभाव—का अध्ययन भी आवश्यक है। इससे स्पष्ट होता है कि राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में सुरक्षा संबंधी निर्णय बहुआयामी प्रभाव पैदा करते हैं।

कारगिल युद्ध और नेतृत्व

1999 का कारगिल संघर्ष वाजपेयी के प्रधानमंत्री कार्यकाल की एक बड़ी चुनौती था। युद्ध की स्थिति में राजनीतिक नेतृत्व के सामने राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय कूटनीति की चुनौती भी थी।

भारत ने सैन्य स्तर पर अपनी स्थिति मजबूत की और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी पाकिस्तान पर कूटनीतिक दबाव बनाने का प्रयास किया।

कारगिल के दौरान वाजपेयी के नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न पर सरकार ने राजनीतिक और कूटनीतिक दोनों स्तरों पर काम किया।

इस अनुभव ने भारतीय राष्ट्र-निर्माण में सुरक्षा संस्थाओं और राजनीतिक नेतृत्व के बीच समन्वय के महत्व को भी रेखांकित किया।

भारत-पाकिस्तान संबंध और शांति प्रयास

वाजपेयी के नेतृत्व की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति दृढ़ता के साथ उन्होंने शांति और संवाद की संभावना को भी बनाए रखा।

1999 में उनकी लाहौर बस यात्रा भारत-पाकिस्तान संबंधों में एक महत्वपूर्ण घटना थी। दोनों देशों के बीच तनाव के बावजूद उन्होंने संवाद की दिशा में कदम उठाया।

यहाँ उनके कवि व्यक्तित्व को भी समझना उपयोगी है। उनकी कविता “जंग न होने देंगे” युद्ध के विरोध और शांति की आकांक्षा को व्यक्त करती है। इस कविता का भाव उनके राजनीतिक दृष्टिकोण के उस पक्ष से जुड़ता है जिसमें राष्ट्रीय सुरक्षा और शांति को परस्पर विरोधी नहीं माना गया।

अर्थात् एक मजबूत राष्ट्र अपनी सुरक्षा के प्रति सजग रहते हुए भी शांति की कोशिश कर सकता है। वाजपेयी की विदेश नीति में यह संतुलन दिखाई देता है।

आधारभूत संरचना और राष्ट्र-निर्माण

राष्ट्र-निर्माण में आधारभूत संरचना की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। सड़कें, परिवहन, दूरसंचार और ऊर्जा जैसी सुविधाएँ केवल आर्थिक विकास को गति नहीं देतीं बल्कि देश के विभिन्न क्षेत्रों को सामाजिक और आर्थिक रूप से जोड़ती भी हैं।

वाजपेयी सरकार के समय **स्वर्णिम चतुर्भुज परियोजना** प्रारंभ हुई। इसका उद्देश्य देश के प्रमुख महानगरीय केंद्रों के बीच सड़क संपर्क को मजबूत करना था।

इस परियोजना का महत्व केवल सड़क निर्माण तक सीमित नहीं था। बेहतर सड़क संपर्क से व्यापार, परिवहन, रोजगार और क्षेत्रीय संपर्क को बढ़ावा मिलने की संभावना बनी।

राष्ट्र-निर्माण के दृष्टिकोण से सड़कें भौगोलिक दूरी कम करने के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक दूरी कम करने का भी माध्यम बन सकती हैं।

प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना

ग्रामीण भारत राष्ट्र-निर्माण का महत्वपूर्ण आधार है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों को बेहतर सड़क संपर्क उपलब्ध नहीं होता तो शिक्षा, स्वास्थ्य, बाजार और रोजगार जैसी सुविधाओं तक उनकी पहुँच सीमित रहती है। वाजपेयी सरकार के समय प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना की शुरुआत हुई। इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों को सर्व-मौसम सड़क संपर्क उपलब्ध कराना था।

ग्रामीण संपर्क को विकास से जोड़ना राष्ट्र-निर्माण के व्यापक दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण हिस्सा था। सड़क के माध्यम से गाँव बाजारों से जुड़ते हैं, विद्यार्थी शिक्षा संस्थानों तक पहुँच पाते हैं और ग्रामीण उत्पादों को व्यापक बाजार मिल सकता है।

इस प्रकार ग्रामीण सड़क योजना को केवल निर्माण परियोजना के रूप में नहीं बल्कि ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक एकीकरण के प्रयास के रूप में समझा जा सकता है।

दूरसंचार और तकनीकी विकास

वाजपेयी सरकार के समय भारत में दूरसंचार क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। दूरसंचार व्यवस्था में सुधार और निजी भागीदारी के विस्तार ने भारत में संचार के विकास को प्रभावित किया।

तकनीकी विकास आधुनिक राष्ट्र-निर्माण का आवश्यक हिस्सा है। संचार सुविधाओं के विस्तार से प्रशासन, व्यापार, शिक्षा और सामाजिक संपर्क को बढ़ावा मिलता है।

वाजपेयी के नेतृत्व में सूचना प्रौद्योगिकी और संचार को भारत की आधुनिक क्षमता के महत्वपूर्ण आधार के रूप में देखा गया।

यह दृष्टिकोण उस समय विशेष रूप से महत्वपूर्ण था जब वैश्विक अर्थव्यवस्था तेजी से डिजिटल और तकनीकी स्वरूप ग्रहण कर रही थी।

आर्थिक विकास की दृष्टि

वाजपेयी के शासनकाल में आर्थिक सुधारों को आगे बढ़ाने तथा बुनियादी संरचना को मजबूत करने पर जोर दिया गया।

उनके लिए आर्थिक विकास केवल सकल घरेलू उत्पाद बढ़ाने का प्रश्न नहीं था। मजबूत अर्थव्यवस्था का संबंध रोजगार, आधारभूत संरचना, तकनीकी क्षमता और वैश्विक प्रतिस्पर्धा से भी था।

वाजपेयी के नेतृत्व में निजी क्षेत्र की भूमिका और आर्थिक उदारीकरण को आगे बढ़ाने की दिशा में प्रयास किए गए। साथ ही सरकार ने आधारभूत संरचना में निवेश को महत्व दिया।

राष्ट्र-निर्माण के लिए आर्थिक विकास इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि मजबूत अर्थव्यवस्था राज्य को सामाजिक कल्याण, सुरक्षा और सार्वजनिक सेवाओं के क्षेत्र में अधिक क्षमता प्रदान करती है।

शिक्षा और मानव संसाधन

राष्ट्र-निर्माण में केवल भौतिक आधारभूत संरचना पर्याप्त नहीं होती। मानव संसाधन का विकास भी आवश्यक है।

वाजपेयी सरकार के समय शिक्षा को विकास के महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में देखा गया। सर्व शिक्षा अभियान जैसी पहल का उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा की पहुँच का विस्तार करना था।

शिक्षा के माध्यम से नागरिकों में ज्ञान, कौशल और सामाजिक जागरूकता का विकास होता है। इसलिए शिक्षा पर निवेश दीर्घकालीन राष्ट्र-निर्माण का आधार बनता है।

यदि सड़कें भौतिक रूप से राष्ट्र को जोड़ती हैं तो शिक्षा नागरिकों को सामाजिक और बौद्धिक रूप से जोड़ने का कार्य करती है।

ग्रामीण विकास और सामाजिक परिवर्तन

भारत की बड़ी आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती रही है। इसलिए ग्रामीण विकास के बिना समावेशी राष्ट्र-निर्माण संभव नहीं है।

वाजपेयी सरकार के समय ग्रामीण सड़क, शिक्षा और आधारभूत सुविधाओं पर जोर दिया गया। इन पहलों का उद्देश्य ग्रामीण समाज को राष्ट्रीय विकास की मुख्यधारा से जोड़ना था।

राष्ट्र-निर्माण का वास्तविक अर्थ तभी पूरा होता है जब विकास का लाभ केवल महानगरों तक सीमित न रहे बल्कि छोटे शहरों और गाँवों तक भी पहुँचे।

इस संदर्भ में ग्रामीण आधारभूत संरचना संबंधी योजनाएँ महत्वपूर्ण थीं।

सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय एकता

भारत की विविधता राष्ट्र-निर्माण के लिए एक महत्वपूर्ण चुनौती और अवसर दोनों है। जाति, भाषा, धर्म, क्षेत्र और संस्कृति की विविधता को लोकतांत्रिक व्यवस्था में समायोजित करना आवश्यक है।

वाजपेयी का राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता पर जोर देता था। उनके लिए भारत की शक्ति उसकी विविधता को एक साझा राष्ट्रीय पहचान में जोड़ने की क्षमता में थी।

सामाजिक समरसता का अर्थ सभी मतभेद समाप्त करना नहीं है। इसका अर्थ यह है कि मतभेद लोकतांत्रिक संवाद के माध्यम से व्यक्त हों और सामाजिक समूहों को समान सम्मान प्राप्त हो।

इस दृष्टि से उनका राष्ट्र-निर्माण का विचार राजनीतिक एकता के साथ सामाजिक एकता पर भी जोर देता है।

कवि अटल और राष्ट्र-निर्माण की चेतना

अटल बिहारी वाजपेयी का कवि व्यक्तित्व उनके राष्ट्र-निर्माण संबंधी विचारों को समझने का महत्वपूर्ण माध्यम है।

उनकी कविता “आओ फिर से दिया जलाएँ” में निराशा के बीच आशा, अंधकार के बीच प्रकाश और कठिन परिस्थितियों में पुनः प्रयास करने की भावना दिखाई देती है।

राष्ट्र-निर्माण भी इसी प्रकार की निरंतर प्रक्रिया है। किसी राष्ट्र की उपलब्धियाँ अंतिम नहीं होतीं। हर पीढ़ी को नई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और नए लक्ष्य निर्धारित करने पड़ते हैं।

इस दृष्टि से कविता में दिखाई देने वाला “फिर से” का भाव पुनर्निर्माण और निरंतर प्रयास का प्रतीक माना जा सकता है।

उनका कवि व्यक्तित्व यह संदेश देता है कि राष्ट्र-निर्माण केवल सरकारी योजनाओं से नहीं बल्कि नागरिकों के विश्वास, आशा और सामूहिक प्रयास से भी होता है।

“गीत नया गाता हूँ” और परिवर्तन की भावना

वाजपेयी की कविता “गीत नया गाता हूँ” को उनके नेतृत्व में दिखाई देने वाली परिवर्तनशीलता और नई शुरुआत की भावना से जोड़ा जा सकता है।

राष्ट्र-निर्माण में पुराने अनुभवों से सीखते हुए नई परिस्थितियों के अनुसार नीतियों में परिवर्तन आवश्यक होता है। वाजपेयी के नेतृत्व में भारत ने आर्थिक, तकनीकी और रणनीतिक क्षेत्रों में बदलती वैश्विक परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालने का प्रयास किया।

कविता का “नया” भाव इस संदर्भ में प्रतीकात्मक महत्व रखता है। यह अतीत को अस्वीकार करने के बजाय उससे सीख लेकर भविष्य की ओर बढ़ने की मानसिकता को दर्शाता है।

विदेश नीति में संतुलन

वाजपेयी की विदेश नीति का एक प्रमुख तत्व था—**राष्ट्रीय हित के साथ अंतरराष्ट्रीय संवाद**।

उन्होंने भारत की रणनीतिक स्वतंत्रता पर जोर दिया, लेकिन साथ ही पड़ोसी देशों के साथ संबंध सुधारने के प्रयास भी किए।

लाहौर बस यात्रा इसका महत्वपूर्ण उदाहरण थी। कारगिल युद्ध के बावजूद उन्होंने संवाद की संभावना समाप्त नहीं होने दी।

यह दृष्टिकोण राष्ट्र-निर्माण के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि आधुनिक राष्ट्र की शक्ति केवल सैन्य क्षमता से निर्धारित नहीं होती। आर्थिक संबंध, कूटनीतिक प्रतिष्ठा, अंतरराष्ट्रीय सहयोग और क्षेत्रीय स्थिरता भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं।

लोकतांत्रिक राष्ट्र-निर्माण

वाजपेयी के लिए राष्ट्र-निर्माण लोकतांत्रिक व्यवस्था से अलग नहीं था। वे संसद और लोकतांत्रिक संस्थाओं के महत्व को समझते थे।

उनका लंबा संसदीय अनुभव उन्हें लोकतांत्रिक राजनीति की व्यावहारिक जटिलताओं से परिचित कराता था।

उनके नेतृत्व में गठबंधन राजनीति का संचालन यह दर्शाता है कि लोकतांत्रिक राष्ट्र-निर्माण में राजनीतिक विविधता को स्वीकार करना आवश्यक है।

लोकतंत्र में राष्ट्र-निर्माण किसी एक व्यक्ति या दल का कार्य नहीं होता। यह सरकार, विपक्ष, नागरिक समाज, सामाजिक समूहों और नागरिकों की सामूहिक प्रक्रिया है।

नेतृत्व की मानवीय संवेदना

वाजपेयी के नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण पक्ष उनकी मानवीय संवेदनशीलता थी। उनके राजनीतिक भाषणों और कविताओं में सामान्य मनुष्य, राष्ट्र और भविष्य को लेकर चिंता दिखाई देती है।

यही संवेदनशीलता उनके कवि व्यक्तित्व में अधिक स्पष्ट होती है।

उनकी कविता में संघर्ष के साथ आशा और मृत्यु के साथ जीवन की चेतना दिखाई देती है। इससे उनके नेतृत्व का भावनात्मक पक्ष समझने में सहायता मिलती है।

एक राष्ट्र का निर्माण केवल संस्थाओं और योजनाओं से नहीं होता; उसमें नागरिकों के सपने, आशाएँ और भावनाएँ भी शामिल होती हैं।

वाजपेयी के राष्ट्र-निर्माण मॉडल की प्रमुख विशेषताएँ

अटल बिहारी वाजपेयी के राष्ट्र-निर्माण संबंधी दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताओं को निम्न रूप में समझा जा सकता है-

- पहला, राष्ट्रीय सुरक्षा को मजबूत करना।

- दूसरा, आर्थिक विकास और आधारभूत संरचना का विस्तार।
- तीसरा, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच संपर्क बढ़ाना।
- चौथा, तकनीकी एवं दूरसंचार विकास को बढ़ावा देना।
- पाँचवाँ, शिक्षा और मानव संसाधन को महत्व देना।
- छठा, राजनीतिक स्थिरता और गठबंधन सहयोग को बनाए रखना।
- सातवाँ, विदेश नीति में राष्ट्रीय हित और शांति के बीच संतुलन।
- आठवाँ, राष्ट्रीय एकता और सामाजिक समरसता को महत्व देना।

इन सभी तत्वों को मिलाकर वाजपेयी के राष्ट्र-निर्माण संबंधी दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

वाजपेयी के नेतृत्व का मूल्यांकन केवल उपलब्धियों के आधार पर करना पर्याप्त नहीं है। उनकी नीतियों और उनके दीर्घकालीन प्रभावों का आलोचनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

परमाणु परीक्षणों ने भारत की रणनीतिक क्षमता को मजबूत किया, लेकिन इसके साथ अंतरराष्ट्रीय दबाव और क्षेत्रीय सुरक्षा संबंधी चिंताएँ भी उत्पन्न हुईं।

गठबंधन राजनीति ने विभिन्न दलों को सत्ता में भागीदारी दी, लेकिन गठबंधन सरकारों में नीति-निर्माण और निर्णय लेने की प्रक्रिया जटिल भी होती है।

आर्थिक सुधारों और निजी क्षेत्र की भूमिका में वृद्धि ने विकास के नए अवसर पैदा किए, लेकिन इनके सामाजिक और वितरणात्मक प्रभावों का मूल्यांकन भी आवश्यक है।

इसी प्रकार आधारभूत संरचना की बड़ी परियोजनाएँ दीर्घकालीन विकास के लिए महत्वपूर्ण थीं, लेकिन उनके लाभों का समान वितरण सुनिश्चित करना भी आवश्यक था।

इसलिए वाजपेयी के राष्ट्र-निर्माण संबंधी योगदान का संतुलित मूल्यांकन उपलब्धियों और सीमाओं दोनों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

समकालीन भारत के लिए प्रासंगिकता

वाजपेयी की नेतृत्व शैली आज भी भारतीय लोकतंत्र के अध्ययन के लिए प्रासंगिक है। विशेष रूप से गठबंधन राजनीति, राजनीतिक संवाद और राष्ट्रीय हित के प्रश्न आज भी भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण विषय हैं।

उनके नेतृत्व से यह सीख मिलती है कि लोकतंत्र में राजनीतिक मतभेद स्वाभाविक हैं, लेकिन संवाद और संस्थागत मर्यादा आवश्यक हैं।

उनका आधारभूत संरचना संबंधी दृष्टिकोण भी आज के भारत में महत्वपूर्ण है। सड़क, संचार और तकनीकी नेटवर्क किसी भी आधुनिक अर्थव्यवस्था की आधारशिला हैं।

इसी प्रकार उनकी विदेश नीति में राष्ट्रीय हित और शांति के बीच संतुलन का प्रयास वर्तमान वैश्विक राजनीति में भी प्रासंगिक दिखाई देता है।

निष्कर्ष

अटल बिहारी वाजपेयी का नेतृत्व भारतीय राष्ट्र-निर्माण के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय प्रस्तुत करता है। उनका राजनीतिक जीवन लंबे संसदीय अनुभव, विपक्षी राजनीति, गठबंधन सरकार और प्रधानमंत्री के रूप में राष्ट्रीय नेतृत्व से निर्मित हुआ।

उनकी नेतृत्व शैली में दृढ़ता के साथ संवाद, राष्ट्रवाद के साथ लोकतंत्र और राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ शांति की आकांक्षा का संतुलन दिखाई देता है। उन्होंने ऐसे समय में केंद्र सरकार का नेतृत्व किया जब भारतीय राजनीति गठबंधन के दौर में प्रवेश कर चुकी थी। विभिन्न राजनीतिक दलों को साथ लेकर सरकार चलाना उनकी नेतृत्व क्षमता की महत्वपूर्ण परीक्षा थी।

राष्ट्र-निर्माण के क्षेत्र में उनके योगदान का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा को व्यापक रूप में देखा। राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक विकास, आधारभूत संरचना, ग्रामीण संपर्क, दूरसंचार, शिक्षा और विदेश नीति—इन सभी को उन्होंने आधुनिक भारत की क्षमता से जोड़ा।

1998 के परमाणु परीक्षणों ने भारत की रणनीतिक स्थिति को प्रभावित किया। कारगिल युद्ध के दौरान उनके नेतृत्व ने राष्ट्रीय सुरक्षा और कूटनीति के बीच समन्वय की आवश्यकता को सामने रखा। लाहौर बस यात्रा ने यह दिखाया कि सुरक्षा के प्रति दृढ़ता के बावजूद शांति और संवाद के प्रयास किए जा सकते हैं।

स्वर्णिम चतुर्भुज और प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना जैसी आधारभूत संरचना संबंधी पहलों ने देश के विभिन्न हिस्सों को बेहतर तरीके से जोड़ने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दूरसंचार और तकनीकी विकास पर बल ने भारत के आधुनिक आर्थिक ढाँचे को मजबूत करने की प्रक्रिया को गति दी।

वाजपेयी के राष्ट्र-निर्माण की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक उनका **आशावादी दृष्टिकोण** था। उनके कवि व्यक्तित्व ने इस दृष्टिकोण को विशेष गहराई दी। *आओ फिर से दिया जलाएँ* में अंधकार के बीच आशा और पुनः प्रयास की भावना राष्ट्र-निर्माण के उनके दृष्टिकोण से जुड़ी है। *गीत नया गाता हूँ*

परिवर्तन और नई शुरुआत की ओर संकेत करती है, जबकि जंग न होने देंगे शांति और मानवता की आकांक्षा को सामने रखती है।

इस प्रकार वाजपेयी की कविता उनके राजनीतिक व्यक्तित्व से अलग कोई दूसरा संसार नहीं थी। वह उनके विचारों का संवेदनात्मक विस्तार थी। उनका कवि मन जिस राष्ट्र, समाज और भविष्य की कल्पना करता था, राजनेता के रूप में वे उसी दिशा में नीतिगत और राजनीतिक प्रयास करते दिखाई देते हैं।

समग्र रूप से कहा जा सकता है कि अटल बिहारी वाजपेयी का राष्ट्र-निर्माण संबंधी योगदान राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक विकास, आधारभूत संरचना, तकनीकी प्रगति, लोकतांत्रिक संवाद, राजनीतिक सहमति और शांति के विभिन्न आयामों को जोड़ता है।

उनकी विरासत का महत्व केवल उनके द्वारा लिए गए निर्णयों में नहीं बल्कि उस नेतृत्व-दृष्टि में भी है जिसमें राष्ट्र-निर्माण को एक सतत प्रक्रिया माना गया। उनका जीवन यह संकेत देता है कि राष्ट्र की प्रगति केवल आर्थिक या सैन्य शक्ति से नहीं बल्कि लोकतांत्रिक संस्थाओं, नागरिक विश्वास, सामाजिक एकता और भविष्य के प्रति आशावादी दृष्टिकोण से भी निर्मित होती है।

अतः अटल बिहारी वाजपेयी का अध्ययन भारतीय राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। वे ऐसे नेता के रूप में सामने आते हैं जिन्होंने राजनीतिक दृढ़ता को संवाद, राष्ट्रीय हित को शांति और विकास को लोकतांत्रिक शासन के साथ जोड़ने का प्रयास किया। यही उनके नेतृत्व और राष्ट्र-निर्माण में योगदान की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।

संदर्भ सूची

1. भारत सरकार, प्रधानमंत्री कार्यालय। श्री अटल बिहारी वाजपेयी — पूर्व प्रधानमंत्री।
2. वाजपेयी, अटल बिहारी। मेरी इक्यावन कविताएँ। किताबघर प्रकाशन।
3. वाजपेयी, अटल बिहारी। मेरी संसदीय यात्रा।
4. वाजपेयी, अटल बिहारी। कुछ लेख, कुछ भाषण।
5. भारत सरकार। प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना से संबंधित आधिकारिक दस्तावेज।
6. भारत सरकार। स्वर्णिम चतुर्भुज परियोजना से संबंधित आधिकारिक अभिलेख।
7. भारतीय संसद। अटल बिहारी वाजपेयी के संसदीय भाषण एवं अभिलेख।
8. भारत सरकार, विदेश मंत्रालय। भारत की विदेश नीति एवं भारत-पाकिस्तान संबंधों से संबंधित अभिलेख।
9. भारत सरकार। 1998 के परमाणु परीक्षणों एवं राष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित आधिकारिक अभिलेख।
10. हिन्दवी। अटल बिहारी वाजपेयी की कविताओं से संबंधित साहित्यिक सामग्री।

हवामान बदल आणि पर्यावरण संरक्षणात समाज समाजकार्यकर्त्यांची भूमिका

डॉ. मीनाक्षी कुबडे
सहाय्यक प्राध्यापिका
डॉ.आंबेडकर कॉलेज ऑफ सोशल वर्क, वर्धा.

सारांश

शुद्ध पर्यावरण हा मानवाचा मूलभूत अधिकार आहे. परंतु वर्तमान परिस्थिती बघता पर्यावरणी घटकांच्या अशुद्धीकरणातून अनेक समस्यांचा जन्म होत आहे. तेव्हा होणारे हवामान बदल व या हवामान बदलामुळे होणारे दुष्परिणाम निवारणार्थ समाज कार्यकर्त्यांची भूमिका इत्यादी घटकांचे अध्ययन करण्याच्या उद्देशाने सदर अध्ययन करण्यात आले आहे. सदर अध्ययन वर्णनात्मक स्वरूपाचे आहे. सदर अध्ययनासाठी पुस्तके, वर्तमानपत्रे, मासिके, संकेतस्थळ इत्यादी दुय्यम तथ्यस्रोतांचे अध्ययन करण्यात आले व त्या आधारे निष्कर्षांची मांडणी करण्यात आली. सदर अध्ययनातून असा निष्कर्ष प्राप्त होतो की, वर्तमान जंगल तोड, जल प्रदूषण, जमिनीचे प्रदूषण, वायू प्रदूषण, जैव विविधतेचा हास, प्लास्टिकचा वाढता वापर, नैसर्गिक संसाधनांचा वेगाने होणारा हास, जागतिक तापमानात होणारी वाढ, अनियमित पर्जन्यमान, दुष्काळ, चक्रीवादळे, पूर यामुळे यामुळे जनजीवन विस्कळीत झाले आहे. या समस्यांचा सामना करण्यासाठी शासन वेळोवेळी उपाययोजना करताना दिसते परंतु, शासनाच्या योजना त्यासाठी पर्याप्त नाहीत. तर जन सहभागही तेवढाच महत्त्वाचा आहे. हा जन सहभाग मिळवण्यात समाज कार्यकर्त्यांची महत्त्वाची भूमिका आहे. समाज कार्यकर्ते शासन व जनता यामधील मध्यस्थ म्हणून हे कार्य करताना दिसतात. समाज कार्यकर्ते पर्यावरण संरक्षणासाठी जन सहभाग वाढविणे, स्थानिक संसाधनांच्या संरक्षणासाठी लोकांना प्रेरित करणे व जागतिक समुदायाने पर्यावरण पूरक जीवनशैलीचा अंगीकार करावा यासाठी लोकांना प्रेरित करण्याचे कार्य करतात.

बीज शब्द - हवामान बदल, पर्यावरण संरक्षण, समाजकार्य, शाश्वत विकास

प्रस्तावना

मानव प्राणी व पर्यावरण यांच्यात अनोन्य संबंध आहे. शुद्ध पर्यावरण हा मानवी जीवनाचा मूलभूत आधार आहे. मानवाला सुखी संपन्न व समाधानकारक जीवनयापन करण्यासाठी शुद्ध हवा, पाणी, अन्न व ऊर्जा हवी असते. या सर्व बाबी शुद्ध पर्यावरणातून प्राप्त होतात. परंतु वर्तमान मानवाची विकासाची संकल्पना बदललेली आहे. मानवी प्रजातीने आत्मकेंद्रीय, विघातकी, अतिरेकी, व्यक्तीवादि व भौतिकवादावर आधारभूत असणारी विकासाची संकल्पना स्वीकारली आहे. त्यातून जैव विविधता, पशुपक्षी, जमीन, भूगर्भ, हवा, पाणी या सर्व घटकांचा अतिरेकी व अविवेकी वापर सुरू केला. त्यातून पर्यावरणाचा समतोल ढासळला व हवामानात बदल झालेत. या विघातक व अपायकारक बदलांचे परिणाम मानवी जीवनावर होऊ लागले आहे. त्यातून पुन्हा पर्यावरण संरक्षण व संवर्धनासाठी संपूर्ण जागतिक पातळीवर मानवी क्रियाकलाप सुरू झालेत. या उचित कार्यवाहीत व्यवसायिक समाज कार्यकर्ते महत्त्वाची भूमिका पार पाडत आहेत.

अध्ययनाचे उद्देश-

1. हवामान बदलाची कारणे जाणून घेणे.
2. हवामान बदलाचे परिणाम विशद करणे.
3. हवामान बदल आणि पर्यावरण संरक्षणात व्यवसायिक समाजकार्यकर्त्यांची भूमिका करणे.

अध्ययन पद्धती- सदर अध्ययनासाठी पुस्तके, वर्तमानपत्रे, मासिके, संकेतस्थळ इत्यादी द्रव्यम तथ्यस्रोतांचे अध्ययन करण्यात आले व त्या आधारे निष्कर्षांची मांडणी करण्यात आली

विषयाचे विवेचन-

हवामान बदल म्हणजे तापमान, पर्जन्यमान, वार्याची दिशा, तसेच इतर हवामान घटकांमध्ये बदल होणे होय. सध्या हा होणारा बदल सर्व पर्यावरण व जीवावरणासाठी धोकादायक असा आहे. गेल्या दोनशे वर्षात जवळजवळ सर्व जागतिक तापमान वाढीसाठी मानवच जबाबदार आहे. मानवी क्रियाकलापामुळे कार्बन डायऑक्साइड, मिथेन, नायट्रीट ऑक्साईड यासारख्या हरितगृह वायुचे प्रमाण मोठ्या प्रमाणावर वाढले आहे. त्यामुळे पृथ्वीचे तापमान वाढल्याचे दिसते. औद्योगिक क्रांती पूर्वीच्या तापमान वाढीपेक्षा सध्याचे तापमान 1.44 अंश सेल्सिअसने जास्त आहे. 2015 ते 2024 हे आतापर्यंतचे सर्वात उष्ण दशक होते. संयुक्त राष्ट्रसंघाच्या अहवालानुसार याच गतीने उष्णतामान वाढल्यास या शतकाच्या अखेरीस 2.80 फॉरेनट अंश सेल्सिअस पर्यंत तापमान वाढ होईल. जागतिक तापमान वाढीसाठी कारणीभूत विषारी वायूचे उत्सर्जन चीन, अमेरिका, भारत, युरोपियन युनियन, रशिया व इंडोनेशिया सारखे देश जास्त प्रमाणात करीत आहेत. या उलट 45 सर्वात कमी विकसित देशांचा जागतिक हरितगृह वायू उत्सर्जनात केवळ तीन टक्के वाटा आहे. जगातील प्रत्येक देशाने या विघातक

उत्सर्जनावर प्रतिबंध घालण्यासाठी कृती करणे आवश्यक आहे. संपूर्ण जीवाश्म ऐवजी सौर, पवन, जल यासारखे उर्जा स्रोतांचा लोकांनी वापर करणे आवश्यक आहे.

हवामान बदलामुळे पृथ्वीच्या तापमानात वाढ होत आहे. पृथ्वीचे सुरक्षा कवच असणारा ओझोन वायूचा थर विरळ होत आहे. पृथ्वीचे तापमान वाढल्याने अनेक पर्यावरणीय समस्या निर्माण झाल्यात व पुढेही होतील. पृथ्वीचे तापमान असेच वाढत राहिल्यास हिम नद्या वितळतील, त्यामुळे समुद्राच्या पाणी पातळीत वाढ होईल व जमिनीचे क्षेत्रफळ कमी होईल. हिमनद्या वितळल्यास पूरस्थिती निर्माण होऊ शकते हिमनदी व त्यावर अवलंबून असलेल्या वनस्पती व प्राण्यांच्या अधिवासात बदल होऊ शकतो. भारतीय पर्यटन व्यवसायावर त्याचा विपरीत परिणाम होईल. पृथ्वीच्या तापमानात अशीच वाढ होत राहिल्यास तीव्र पाणीटंचाईचा सामना करावा लागेल. उन्हाळ्यासारख्या ऋतूत मानवी प्राण्याला मोठ्या उकाड्याचा सामना करावा लागेल. मानवाची त्वचा भाजून निघेल. पावसाचा लहरीपणा वाढेल. मानवी आरोग्याच्या अनेक नव्या समस्या जन्माला येतील, शेतीच्या उत्पादक क्षमतेत घट होईल, याचा परिणाम देशाच्या अर्थव्यवस्थेवर होईल. दारिद्र्यात वाढ होईल, अन्नटंचाई बेरोजगारी व स्थलांतर वाढेल. यातून सामाजिक संघर्षात वाढ होईल. एकंदर सर्व जनजीवन विस्कळीत होईल व ते पूर्ववत करण्यासाठी बऱ्याच तीव्रतेने कृती करावी लागेल. तसेच एवढ्या सहजासहजी ते पूर्ववत होणारही नाही. त्यामुळे पर्यावरणाचे संतुलन राखण्यासाठी वातावरणाच्या नैसर्गिक संतुलनाला बाधित न करणे सर्वांच्या सोयीचे ठरेल. त्यासाठी नैसर्गिक संसाधनांचा योग्य वापर करावा लागेल. तसेच हरितगृह वायू उत्सर्जनावर मर्यादा आणायची लागेल सध्या तर विकसित देश कार्बन उत्सर्जनाच्या बाबतीत कोणतीही तळजोडीचे धोरण न बाळगता उद्धटपणे वागताना दिसून येत आहेत. एकंदर हवामान बदल संरक्षण, पर्यावरण संरक्षण ही काळाची गरज आहे. ही प्रत्येकाची जबाबदारी आहे. यात व्यावसायिक समाज कार्यकर्ते प्रमुख भूमिका पार पाडू शकतात व पार पाडत आलेले आहेत. व्यावसायिक समाजकार्य हा भारतात विसाव्या शतकात उदयास आलेला व्यवसाय आहे. व्यावसायिक समाज कार्यकर्ते, वैयक्तिक गट व समुदायासोबत त्याच्या विकासासाठी त्याच्या सहकार्याने कार्य करतात. समाजकार्याची व्याप्ती व विस्तार फार विस्तीर्ण आहे. असा कोणताही घटक किंवा समस्या नाही कि जी समाजकार्याच्या कक्षेत येत नाही. पर्यावरण हा घटकही समाजकार्याचा व्याप्ती अंतर्गत येतो. हवामान बदल व पर्यावरण संरक्षणात व्यावसायिक समाज कार्यकर्त्यांची महत्त्वाची भूमिका आहे.

समाजकार्य ही एक व्यावसायिक सेवा आहे. की जी व्यक्ती समूह व समुदायाच्या सामाजिक, आर्थिक व मानसिक विकासासाठी कार्य करते. आज समाज कार्यामध्ये पर्यावरण संरक्षण आणि हवामान बदल या सारख्या विषयांचाही समावेश झाला आहे. रॅली, पथनाट्य, व्याख्याने, प्रदर्शन, सोशल मीडियाचा वापर यासारखी साधने समाज कार्यकर्ते सहज उपयोगात आणू शकतात. समाज कार्यकर्ते वरील साधनांचा उपयोग करून गावोगावी, शाळांमध्ये महाविद्यालयांमध्ये पर्यावरण

संरक्षण विषयक जनजागृती निर्माण करतात. समाज कार्यकर्ते वृक्षारोपण मोहीम राबवितात, समाज कार्यकर्ते लोकांना पाण्याचे महत्व समजावून सांगत आहेत. शेततळे, बंधारे बांधून पावसाचे पाणी साठवणे व त्याचा उपयोग करून घेणे याबद्दल जागरूकता निर्माण करत आहे. एकंदर ते जलसाक्षरता अभियान राबवत आहे. प्लास्टिक मुक्तीसाठीही समाज कार्यकर्ते विशेष प्रयत्न करताना दिसून येतात. समाज कार्यकर्ते शाश्वत विकासाला प्रोत्साहन देण्यासाठी ही कार्यशील आहेत. पर्यावरण शिक्षण देण्यासाठी ही समाज कार्यकर्ते अग्रही भूमिका पार पाडत आहेत. समाज कार्यकर्ते पर्यावरण संरक्षणात स्थानिक समुदायाला सहभागी करून घेण्यासाठी स्वयंसेवक तयार करणे, ग्रामसभा आयोजित करणे, युवकांना सहभागी करणे इत्यादी कार्य करतांना दिसून येतात. नैसर्गिक आपत्ती व्यवस्थापनातही समाज कार्यकर्त्यांची प्रमुख भूमिका राहिली आहे. पूर, दुष्काळ, चक्रीवादळे, भूकंप यासारख्या संकट काळात मदतकार्य, पुनर्वसन, समुपदेशन व पुनर्बांधणीसाठी व्यावसायिक समाजकार्याचे योगदान सदैव राहिले आहे. सरकारी योजनांचा लाभ मिळवून देणे व समाज कार्यकर्ते नागरिकांना विविध योजनांची जोडण्याचे कार्य करतात. समाज कार्यकर्ते जनसमुहांना पर्यावरण पूरक जीवनशैली आत्मसात करण्यासाठी मार्गदर्शन करतात. ऊर्जा बचत, सौरऊर्जेचा वापर, सार्वजनिक वाहतूक व्यवस्थेचा वापर, सेंद्रिय शेती, स्थानिक उत्पादनांचा वापर करण्यासाठी समाज कार्यकर्ते जनसमुदायाला प्रेरित करताना दिसून येत आहेत. हवामान बदलासाठी व पर्यावरण संरक्षणासाठी व्यावसायिक समाज कार्यकर्ते समाजकार्याच्या प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष पद्धतीचा उपयोग करून कार्य करतांना दिसतात. वैयक्तिक समाजकार्य करून व्यक्तीमध्ये पर्यावरण पूरक सवय विकसित करतात. समूह समाजकार्य करून युवक मंडळ, महिला मंडळ, विद्यार्थी यांना पर्यावरण पूरक जीवनशैली आत्मसात करण्यासाठी जागरूक करतात. समुदाय संघटन पद्धती द्वारे संपूर्ण गावाला पर्यावरण कार्यक्रम राबविण्यासाठी सहभागी करून घेतात. सामाजिक कृती पद्धतीच्या माध्यमातून पर्यावरण संरक्षणासाठी कायद्याच्या अंमलबजावणी करण्यासाठी लोक चळवळ उभारतात. तर सामाजिक संशोधन पद्धतीच्या माध्यमातून पर्यावरण समस्यांचा अभ्यास करून उपाय सुचविण्याचे कामही समाज कार्यकर्ते करताना दिसून येतात. एकंदर पर्यावरण संरक्षण व हवामान बदलावर प्रतिबंध घालण्यासाठी समाजकार्य महत्त्वाची भूमिका पार पाडते.

उपाययोजना –

1. हवामान बदल थांबवण्यासाठी व पर्यावरण संरक्षणासाठी संपूर्ण जागतिक स्तरावर पर्यावरण शिक्षण सक्तीचे करणे व तेवढेच पर्यावरण शिक्षण कृतीशील स्वरूपाची करणे ही आवश्यक आहे.
2. संपूर्ण जागतिक स्तरावर अधिक वृक्षारोपण करणे गरजेचे आहे.

3. पावसाचे पाणी जमिनीत जिरवून जलसंधारण करणे आवश्यक आहे तसेच बंधारे शेततळे यासारख्या उपक्रमांच्या माध्यमातून जमिनीचा जलस्तर वाढविणे आवश्यक आहे.
4. अतिरेकी विकासाची संकल्पना त्या गुण चिरकाल बहुपक्षीय विकासाची कास धरणे आवश्यक आहे.
5. संपूर्ण जागतिक पातळीवर हवामान बदलावर प्रतिबंध घालण्यासाठी कायदे व करार केले जाते आवश्यक आहे.
6. प्लास्टिकचा कमीत कमी वापर करणे आवश्यक आहे.
7. सेंद्रिय शेतीला प्रोत्साहन देणे आवश्यक ठरेल.
8. नवीन करण ऊर्जेचा वापर वाढवावा लागेल.
9. पर्यावरण पूरक कायद्यांची अंमलबजावणी करावी लागेल
10. प्रत्येक व्यक्तीने जबाबदारीने पर्यावरण पूरक कृती करणे आवश्यक आहे.

निष्कर्ष

हवामान बदल ही मानवजातीसमोरील सर्वात मोठी सामाजिक व पर्यावरणीय समस्या आहे. या समस्येवर मात करण्यासाठी शासन, स्वयंसेवी संस्था, शैक्षणिक संस्था, उद्योग, स्थानिक स्वराज्य संस्था आणि सर्वसामान्य नागरिक यांचे संयुक्त प्रयत्न आवश्यक आहेत. समाजकार्यकर्ता हा या सर्व घटकांना एकत्र आणणारा प्रभावी समन्वयक म्हणून कार्य करतो. जनजागृती, लोकसहभाग, पर्यावरण शिक्षण, शाश्वत विकास, नैसर्गिक संसाधनांचे संरक्षण आणि आपती व्यवस्थापन या माध्यमांतून समाजकार्यकर्ते हवामान बदलाच्या परिणामांना कमी करण्यासाठी महत्वाचे योगदान देतात. भविष्यातील पिढ्यांना सुरक्षित, स्वच्छ आणि संतुलित पर्यावरण देणे ही आपली सामूहिक जबाबदारी आहे. पर्यावरणाचे संरक्षण म्हणजे मानवाच्या अस्तित्वाचे संरक्षण. ही भावना प्रत्येक नागरिकामध्ये रुजविणे हे समाजकार्यकर्त्यांचे महत्त्वपूर्ण ध्येय आहे.

संदर्भ

1. लांगरे, सुभाषचंद्र. (2006). पर्यावरण भूगोल. विद्या प्रकाशन.
2. पवार, किशोर, पवार, नलिनी. (2009). प्रदूषणातून पर्यावरणाकडे. नचिकेत प्रकाशन.
3. सूर्यवंशी, ज्ञानेश्वर. (2007). पर्यावरणशास्त्र. श्री विद्या प्रकाशन.
4. पिनवाड, बाळ. (2008). पर्यावरण. श्री मंगेश प्रकाशन.
5. कुलकर्णी, शिल्पा. (2008). पर्यावरण आणि समाज. डायमंड पब्लिकेशन्स.
6. मगर, जयकुमार. (2009). पर्यावरणशास्त्र परिचय. विद्या प्रकाशन.

7. ढाके, इंगळे पाटील. (2005). पर्यावरणशास्त्र. प्रशांत पब्लिकेशन.
8. <https://mr.wikipedia.org/wiki/>
9. <https://www.un.org/en/climatechange/what-is-climate-change>
10. <https://www.bbc.com/marathi/international-58926966>
11. <https://agrowon.esakal.com/agro-special/climate-change-agriculture-impact-sai29>
12. <https://www.dipesh.biz/mr/wissen/klimawandel/>

भाषा की विविधता बनाम समावेशी क्लासरूम टीचिंग: एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

डॉ पारिजात प्रधान

असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय.

सारांश

समाज और शिक्षा के अंतरसंबंधों पर हमेशा ही अकादमिक और शोध जगत में एक रवानगी देखने को मिली है। सभ्यताओं के उदय और उनकी सांस्कृतिक रचनावली में भाषायी विविधता और देशजपन उन्हें एक व्यापक आधार देते हैं जिसमें व्यक्ति शिक्षा के माध्यम से अपनी पहचान बनाता है और अपने आसपास एक समाज का निर्माण करता है। अक्सर जब हम स्कूल के सिलेबस और पाठ्यक्रम को बारीकी से देखकर उसमें विविध आयामों को जोड़ते हैं, तो हमारा जोर समावेशी मूल्यों और आदर्शों पर रहता है। और भारतीय समाज की जटिल सामाजिक- सांस्कृतिक विविधता को देखते हुए ये जरूरी भी है। ये शिक्षकों को एक बेहतरीन मौका देता है जिसमें वो अपने क्लासरूम के भीतर एक ऐसा समाज गढ़ सकें जो विविधता में एकता लिए हुए हो। पर इसी विविधताओं के भीतर कुछ अंतर्विरोध भी होते हैं जो इस व्यवस्था और कुछ अपनी स्थापित सोच से उपजे होते हैं और यही एक शिक्षक और शिक्षा की बुनियाद में नयी चुनौतियों को भी सामने रखते हैं। नयी शिक्षा नीति, २०२० ऐसी ही कुछ चुनौतियों और उसमें भारतीय संस्कृति और समाज की विविधताओं के बीच नए अवसर ढूंढने को प्रेरित करती है। ये मूल्य आधारित शिक्षा और नैसर्गिक गुणों से भरी सृजनशीलता को सामने रखती है जिसमें टेक्नालजी और संस्कृति का समावेश है। भाषायी अस्मिता और क्षेत्रीयता और उसकी विविधता आपको शिक्षा में संदर्भ आधारित उदाहरणों की ओर सोचने को प्रेरित करते हैं जो शिक्षा को और सरल बना सके। पर कई बार यही अस्मिता और देशजपन समाज में स्तरीकृत समुदायों को भी बनाते हैं जिसमें व्यक्ति और शोधार्थी रहते हैं और प्रभावित भी होते हैं। यह शोधपत्र ऐसे ही कई प्रश्नों की अन्वेषणात्मक और वर्णात्मक पद्धति से जांच करता है। यह शोध-पत्र भाषा की विविधता और समावेशी कक्षा-शिक्षण के संबंध का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें बर्नस्टीन के भाषिक कोड, बोरेद्यू की भाषिक पूंजी, कमिंस के द्विभाषिकता और अंतर्भाषिक अंतर्निर्भरता संबंधी सिद्धांत, ट्रांसलैंग्वेजिंग की अवधारणा

तथा भारतीय बहुभाषिकता पर अजीत मोहंती और अन्य विद्वानों के कार्यों की समीक्षा की गई है। साथ ही, हालिया भारतीय शोध—विशेषतः दिल्ली, हैदराबाद और असम में बहुभाषी कक्षा-अभ्यास तथा 2023–2026 के Multilingual Education (MultiEd) शोध—को भी सम्मिलित किया गया है। तर्क यह है कि भाषिक विविधता अपने-आप में समावेशन की गारंटी नहीं देती; वास्तविक समावेशन तभी संभव है जब विद्यालय भाषाओं की सामाजिक असमानता को पहचानते हुए विद्यार्थियों की भाषिक पूँजी को शिक्षण-संसाधन में बदलें।

प्रमुख शब्द: भाषिक विविधता, समावेशी शिक्षा, बहुभाषी शिक्षा, ट्रांसलैंग्वेजिंग, भाषिक पूँजी, सामाजिक असमानता, मातृभाषा, भारतीय कक्षा

प्रस्तावना

इक्कीसवीं सदी की कक्षा तेजी से बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक और सामाजिक रूप से विषम होती जा रही है। वैश्वीकरण, आंतरिक प्रवास, शहरीकरण, रोजगार-गतिशीलता तथा डिजिटल संचार ने विद्यालयों में ऐसे विद्यार्थियों की उपस्थिति बढ़ाई है जिनकी भाषिक पृष्ठभूमियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। भारत में यह स्थिति नई नहीं है; भारतीय समाज ऐतिहासिक रूप से बहुभाषी रहा है। किंतु विद्यालयी व्यवस्था ने अक्सर इस विविधता को संसाधन के बजाय प्रशासनिक समस्या के रूप में देखा है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब विद्यालय की ‘वैध’ भाषा विद्यार्थी की घरेलू या सामुदायिक भाषा से अलग होती है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी की विषय-वस्तु संबंधी समझ और उसकी भाषा-प्रवीणता को एक ही चीज मान लिया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई बच्चा गणितीय अवधारणा को अपनी मातृभाषा में समझता है, लेकिन उसे अंग्रेजी में व्यक्त नहीं कर पाता, तो विद्यालय उसकी वास्तविक संज्ञानात्मक क्षमता को कम आँक सकता है। इस प्रकार भाषा सामाजिक अवसरों के वितरण का माध्यम बन जाती है। भारतीय कक्षाओं पर MultiLiLa शोध में 104 कक्षाओं के अवलोकन से पाया गया कि आधिकारिक माध्यम चाहे अंग्रेजी हो या क्षेत्रीय भाषा, शिक्षक और विद्यार्थी व्यवहार में अनेक भाषाओं का उपयोग करते हैं। ‘Language mixing’ या भाषाओं के लचीले प्रयोग ने वास्तविक कक्षा-संचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालिया 2026 के शोध में भी यह तर्क सामने आया है कि भारतीय बहुभाषी कक्षा के लिए केवल औपचारिक भाषा-नीति पर्याप्त नहीं है; शिक्षक-विद्यार्थी संचार में ट्रांसलैंग्वेजिंग, दृश्य सहारा और सहपाठी-मध्यस्थता जैसी रणनीतियों की आवश्यकता है। अतः मूल प्रश्न यह नहीं है कि कक्षा में कितनी भाषाएँ मौजूद हैं, बल्कि यह है कि कौन-सी भाषा को बोलने, लिखने, सोचने और ज्ञान प्रदर्शित करने का वैध माध्यम माना जाता है और इसका सामाजिक परिणाम क्या है?

भाषा, समाज और शिक्षा : समाजशास्त्रीय आधार

समाजशास्त्रीय दृष्टि से भाषा को तटस्थ माध्यम मानना पर्याप्त नहीं है। भाषा सामाजिक संबंधों को निर्मित और पुनरुत्पादित करती है। विद्यालय इस प्रक्रिया में विशेष भूमिका निभाता है क्योंकि वह कुछ भाषिक रूपों को ‘मानक’, ‘शुद्ध’, ‘शैक्षणिक’ अथवा ‘सभ्य’ घोषित करता है।

बर्नस्टीन और भाषिक कोड

बेसिल बर्नस्टीन के कार्य ने भाषा और सामाजिक वर्ग के संबंध को समझने के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रदान किया। उनके ‘restricted code’ और ‘elaborated code’ संबंधी विचार ने यह प्रश्न उठाया कि विद्यालय किस प्रकार कुछ भाषिक व्यवहारों को शैक्षिक सफलता के लिए अधिक उपयुक्त मानता है। बाद के विद्वानों ने बर्नस्टीन की अवधारणा की आलोचना भी की और चेताया कि किसी समुदाय की भाषा को ‘deficit’ के रूप में देखना सामाजिक पूर्वाग्रह को बढ़ा सकता है। समावेशी शिक्षा के लिए इस बहस का महत्व यह है कि शिक्षक को विद्यार्थी की भाषिक शैली को ‘कमतर भाषा’ मानने के बजाय उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में समझना चाहिए। बच्चे का भाषिक व्यवहार उसकी बुद्धि या क्षमता का सरल सूचक नहीं है।

बोरदियू और भाषिक पूँजी

पियरे बोरदियू के ‘linguistic capital’ और ‘linguistic market’ के विचार से भाषा और शक्ति का संबंध और स्पष्ट होता है। समाज में सभी भाषाओं या भाषिक शैलियों का समान सामाजिक मूल्य नहीं होता। कुछ भाषाओं को प्रशासन, उच्च शिक्षा, रोजगार और प्रतिष्ठा से जोड़ दिया जाता है। भारत में अंग्रेजी का सामाजिक-आर्थिक मूल्य इसका स्पष्ट उदाहरण है। इस प्रकार किसी बच्चे के पास अनेक भाषाओं का ज्ञान हो सकता है, लेकिन विद्यालय और परीक्षा-व्यवस्था यदि केवल एक ‘वैध’ भाषिक रूप को पुरस्कृत करती है, तो उसकी बहुभाषी क्षमता अदृश्य हो सकती है। दूसरी ओर अंग्रेजी या किसी प्रभुत्वशाली क्षेत्रीय भाषा में दक्ष विद्यार्थी को अतिरिक्त शैक्षिक लाभ मिल सकता है। अजीत मोहंती ने भारतीय बहुभाषिकता को ‘double divide’ के रूप में समझाया है—एक ओर अंग्रेजी और प्रमुख भारतीय भाषाओं के बीच तथा दूसरी ओर प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं और आदिवासी/अल्पसंख्यक भाषाओं के बीच असमानता। उनके अनुसार भाषा-नीति और व्यवहार के बीच यह अंतर भाषिक अल्पसंख्यक बच्चों के शैक्षिक नुकसान और सामाजिक हाशियाकरण को बढ़ा सकता है।

शास्त्रीय शोध-समीक्षा : द्विभाषिकता से भाषिक अंतर्निर्भरता तक

बहुभाषी शिक्षा पर प्रारंभिक शोध में एक प्रमुख प्रश्न यह था कि क्या मातृभाषा का प्रयोग दूसरी भाषा

के अधिगम में बाधा डालता है। बीसवीं शताब्दी के मध्य और उत्तरार्ध में अनेक शैक्षिक व्यवस्थाओं ने ‘maximum exposure’ या लक्ष्य-भाषा में अधिकतम संपर्क को श्रेष्ठ रणनीति माना।

जिम कमिंस ने इस धारणा को चुनौती दी। उनके 1981 के शोध ने BICS (Basic Interpersonal Communicative Skills) और CALP (Cognitive Academic Language Proficiency) के बीच अंतर स्थापित किया तथा तर्क दिया कि पहली और दूसरी भाषा में अकादमिक भाषिक विकास परस्पर अंतर्निर्भर हो सकता है। 1983 में कमिंस ने द्विभाषी और विशेष शिक्षा से जुड़े शोध की समीक्षा करते हुए यह भी दिखाया कि यह मान लेना उचित नहीं है कि बच्चे को केवल लक्ष्य-भाषा के अधिकतम संपर्क से ही बेहतर शैक्षिक परिणाम मिलेंगे। पर्याप्त समझने योग्य इनपुट तथा पहली भाषा के संज्ञानात्मक संसाधनों का उपयोग दूसरी भाषा के विकास में सहायक हो सकता है। 2007 में कमिंस ने एकभाषिक शिक्षण की धारणाओं पर पुनर्विचार करते हुए दिखाया कि कक्षा में पहली भाषा और लक्ष्य भाषा के बीच अनुवाद, भाषिक तुलना और अन्य द्विभाषी रणनीतियों को स्वतः निषिद्ध करने का शोध-आधार कमजोर है। इन शोधों का समाजशास्त्रीय महत्व यह है कि भाषा को ‘सीमा’ के बजाय ‘संसाधन’ के रूप में देखने का रास्ता खुलता है। विद्यार्थी अपनी भाषिक पूँजी को एक भाषा से दूसरी भाषा में पूरी तरह अलग-अलग खानों में नहीं रखते; वे अर्थ-निर्माण में उपलब्ध सभी भाषिक और सांस्कृतिक संसाधनों का उपयोग करते हैं।

ट्रांसलैंग्वेजिंग : नई भाषिक शिक्षाशास्त्र की ओर बहुभाषी शिक्षा के क्षेत्र में हाल के दशकों की महत्वपूर्ण अवधारणाओं में **translanguaging** प्रमुख है। García और Wei ने ट्रांसलैंग्वेजिंग को ऐसी प्रक्रिया के रूप में विकसित किया जिसमें बहुभाषी व्यक्ति अपने उपलब्ध भाषिक संसाधनों को कठोर भाषाई सीमाओं में बाँधकर नहीं, बल्कि लचीले ढंग से अर्थ-निर्माण के लिए इस्तेमाल करता है। पारंपरिक कक्षा में अक्सर ‘एक समय में एक भाषा’ का आदर्श स्थापित किया जाता है। उदाहरणतः अंग्रेजी की कक्षा में हिंदी बोलने को अनुशासनहीनता माना जा सकता है। ट्रांसलैंग्वेजिंग दृष्टिकोण इसके विपरीत पूछता है कि यदि विद्यार्थी हिंदी में अवधारणा को बेहतर समझता है और अंग्रेजी में उसका अकादमिक प्रदर्शन विकसित कर रहा है, तो हिंदी को सीखने की प्रक्रिया से क्यों हटाया जाए? यहाँ एक महत्वपूर्ण अंतर करना आवश्यक है। ट्रांसलैंग्वेजिंग का अर्थ केवल अनियोजित code-switching नहीं है। प्रभावी बहुभाषी शिक्षण में शिक्षक योजनाबद्ध ढंग से भाषाओं का उपयोग कर सकता है—जैसे कठिन अवधारणा की मातृभाषा में व्याख्या, द्विभाषी शब्दावली, सहपाठी चर्चा, चित्रों का उपयोग और अंततः लक्ष्य भाषा में लिखित प्रस्तुति।

2019 में कमिस ने ट्रांसलैंग्वेजिंग शिक्षाशास्त्र के उभरते उदाहरणों की समीक्षा करते हुए यह दिखाया कि शिक्षक एकभाषी विद्यालयी व्यवस्था की सीमाओं को चुनौती देते हुए विद्यार्थियों के बहुभाषी संसाधनों को शिक्षण के केंद्र में ला सकते हैं।

भारतीय संदर्भ : भाषिक विविधता और असमानता

भारत में भाषा और शिक्षा का संबंध विशेष रूप से जटिल है क्योंकि यहाँ भाषाएँ केवल संप्रेषण की प्रणालियाँ नहीं बल्कि क्षेत्रीय पहचान, जातीयता, समुदाय और राजनीतिक प्रतिनिधित्व से जुड़ी हैं। संविधान की भाषिक संरचना, राज्य पुनर्गठन, हिंदी-अंग्रेजी संबंध, आदिवासी भाषाओं की स्थिति तथा अंग्रेजी के सामाजिक मूल्य ने शिक्षा को बहुभाषी राजनीति का महत्वपूर्ण क्षेत्र बना दिया है। मोहंती के अनुसार भारतीय बहुभाषिकता ‘समान भाषाओं का सह-अस्तित्व’ मात्र नहीं है; यह शक्ति-संबंधों से निर्मित पदानुक्रम है। अंग्रेजी आर्थिक और सामाजिक गतिशीलता की भाषा बन सकती है, जबकि क्षेत्रीय भाषाएँ स्थानीय प्रशासन और सामाजिक जीवन में केंद्रीय भूमिका निभाती हैं और आदिवासी भाषाएँ कई बार इन दोनों स्तरों से भी नीचे चली जाती हैं।

पश्चिम बंगाल के झाड़ग्राम और पश्चिम मेदिनीपुर में किए गए एक ‘*schoolscape*’ अध्ययन में विद्यालयी दृश्य-संस्कृति और भाषिक संकेतों के माध्यम से यह पाया गया कि बहुसंख्यक भाषाएँ अल्पसंख्यक भाषाओं पर प्रभुत्व रखती हैं तथा कुछ मामलों में शिक्षक और विद्यार्थी अल्पसंख्यक भाषाओं के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हैं। यह तथ्य बताता है कि समावेशन केवल पाठ्यक्रम में किसी भाषा का नाम जोड़ देने से प्राप्त नहीं होता; विद्यालय का वातावरण भी यह संदेश देता है कि कौन-सी भाषा सम्मान की पात्र है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने भारतीय शिक्षा में भाषा के प्रश्न को नए तरीके से प्रस्तुत किया। नीति ने प्रारंभिक वर्षों में मातृभाषा/स्थानीय भाषा के उपयोग को प्रोत्साहित किया और बहुभाषिकता को सीखने की प्रक्रिया से जोड़ने का प्रयास किया। 2025 के बाद प्रकाशित विश्लेषणों में भी यह स्पष्ट है कि नीति की चुनौती उसके सिद्धांत से अधिक उसके कार्यान्वयन में है। UNESCO की *Bhasha Matters* रिपोर्ट ने भाषा को शैक्षिक न्याय, भाषिक अधिकार और सामाजिक समावेशन के प्रश्न से जोड़ा है। रिपोर्ट भारत की 1,369 भाषाओं की विविधता को ध्यान में रखते हुए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता पर बल देती है जिसमें बच्चे उस भाषा में सीख सकें जिसे वे समझते हैं।

हालाँकि ‘मातृभाषा में शिक्षा’ की अवधारणा को भी सरल रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। महानगरीय कक्षा में एक ही विद्यार्थी कई भाषाओं का उपयोग कर सकता है; उसकी ‘मातृभाषा’ और ‘सबसे अधिक प्रयुक्त भाषा’ समान नहीं हो सकती। कुछ परिवार सामाजिक गतिशीलता के लिए अंग्रेजी को प्राथमिकता

दे सकते हैं। अतः समावेशी भाषा-नीति को कठोर मातृभाषा बनाम अंग्रेजी द्वंद्व के बजाय **बहुस्तरीय भाषिक पारिस्थितिकी** के रूप में समझना अधिक उपयोगी होगा।

नवीन शोध : 2020 के बाद की प्रवृत्तियाँ

हालिया शोध से यह स्पष्ट होता है कि बहुभाषी कक्षाओं में वास्तविक व्यवहार औपचारिक भाषा-नीतियों से अधिक जटिल है। दिल्ली और हैदराबाद में 104 कक्षा-अवलोकनों वाले अध्ययन में शिक्षकों और विद्यार्थियों द्वारा अनेक भाषाओं के मिश्रित उपयोग को सामान्य कक्षा-अभ्यास के रूप में दर्ज किया गया। 2024 के NCERT के *Journal of Indian Education* में प्रकाशित अध्ययन ने 177 प्रतिभागियों के माध्यम से EMI/ELT कक्षाओं में translanguaging के प्रति विद्यार्थियों के दृष्टिकोण का अध्ययन किया। परिणामों में comprehension, inclusivity और cultural exchange के संदर्भ में सकारात्मक दृष्टिकोण पाया गया, यद्यपि प्रतिभागियों ने योजनाबद्ध और चयनात्मक translanguaging की आवश्यकता भी व्यक्त की।

2026 का British Council–University of Cambridge सहयोगी **MultiEd India** शोध इस क्षेत्र में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। 2023–2026 के इस शोध-कार्यक्रम ने दिल्ली और असम के अंग्रेजी-माध्यम सरकारी प्राथमिक विद्यालयों में नियोजित बहुभाषी शिक्षण का परीक्षण किया। इसके निष्कर्षों के अनुसार multilingual lesson planning, multilingual vocabulary support और उद्देश्यपूर्ण कक्षा-संवाद से समझ, सहभागिता और आत्मविश्वास में सुधार हुआ तथा अंग्रेजी सीखने पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं देखा गया। इसी क्रम में 2026 का Kaushal और Guha का शोध इस बात पर बल देता है कि भारतीय बहुभाषी कक्षा में समावेशन के लिए शिक्षक की संचार-कौशल क्षमता केंद्रीय है। केवल नीति में ‘बहुभाषिकता’ लिख देना पर्याप्त नहीं; शिक्षक को **translanguaging, visual scaffolding** और **peer mediation** जैसे व्यवहारिक उपकरणों का ज्ञान होना चाहिए।

भाषा की विविधता और समावेशी कक्षा के बीच तनाव

भाषिक विविधता और समावेशी शिक्षण के बीच संबंध को केवल सकारात्मक मानना भी उचित नहीं है। वास्तविक कक्षा में कई चुनौतियाँ होती हैं। पहली चुनौती **शिक्षक-प्रशिक्षण** की है। यदि शिक्षक स्वयं बहुभाषी कक्षा के लिए प्रशिक्षित नहीं हैं, तो वे अनजाने में एकभाषी पद्धति अपना सकते हैं। दूसरी चुनौती **मूल्यांकन** की है। यदि पढ़ाई बहुभाषी है लेकिन परीक्षा केवल एक भाषा में होती है, तो शिक्षण और मूल्यांकन के बीच असंगति पैदा होती है। तीसरी चुनौती **भाषिक पदानुक्रम** है। किसी क्षेत्रीय भाषा को शामिल कर लेना पर्याप्त नहीं यदि उसी कक्षा में आदिवासी या प्रवासी विद्यार्थियों की भाषाओं को कमतर समझा जाता हो। चौथी चुनौती **संसाधनों** की है। पाठ्यपुस्तकें, डिजिटल सामग्री, शब्दकोश और शिक्षक-संसाधन अक्सर कुछ प्रमुख भाषाओं तक सीमित होते हैं। पाँचवीं चुनौती **अभिभावकीय**

आकांक्षाएँ हैं। कई अभिभावक अंग्रेजी को सामाजिक गतिशीलता और रोजगार की भाषा के रूप में देखते हैं। इसलिए मातृभाषा-आधारित शिक्षा की वकालत करते समय अंग्रेजी के अवसर-मूल्य को नज़रअंदाज़ करना सामाजिक वास्तविकता से कट जाना होगा। अतः समावेशी बहुभाषी शिक्षा का लक्ष्य अंग्रेजी या किसी प्रभुत्वशाली भाषा को समाप्त करना नहीं, बल्कि विद्यार्थियों को **बहुभाषी दक्षता और समान अवसर** प्रदान करना होना चाहिए।

आलोचनात्मक समाजशास्त्रीय चर्चा

भाषिक विविधता को केवल **pedagogical technique** के रूप में देखना अधूरा दृष्टिकोण होगा। इसका संबंध सामाजिक न्याय से है। यदि किसी बच्चे की भाषा को विद्यालय में लगातार अदृश्य किया जाता है, तो उसके साथ केवल भाषिक नहीं बल्कि पहचान संबंधी असमानता भी उत्पन्न होती है। मोहंती का भाषिक ‘double divide’ इस समस्या को समझने में विशेष उपयोगी है। एक आदिवासी बच्चा केवल इसलिए शैक्षिक रूप से वंचित नहीं होता कि वह विद्यालय की भाषा नहीं जानता; समस्या यह भी है कि उसकी भाषा और उससे जुड़ा ज्ञान विद्यालय की औपचारिक ज्ञान-व्यवस्था में कम वैध माना जाता है। इस प्रकार भाषिक बहिष्करण सांस्कृतिक बहिष्करण में बदल सकता है। इसी संदर्भ में UNESCO का नवीन दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है, जिसमें बहुभाषी शिक्षा को केवल सीखने के परिणामों से नहीं, बल्कि भाषिक और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा तथा समानता के व्यापक सामाजिक न्याय ढाँचे से जोड़ा गया है। दूसरी ओर, अंग्रेजी के प्रश्न को केवल ‘औपनिवेशिक भाषा’ कहकर खारिज करना भी उचित नहीं होगा। आज अंग्रेजी उच्च शिक्षा, डिजिटल ज्ञान, वैश्विक रोजगार और सामाजिक गतिशीलता का महत्वपूर्ण साधन है। इसलिए समावेशी मॉडल को **बहुभाषिकता बनाम अंग्रेजी** के द्वंद्व से आगे बढ़कर **बहुभाषिकता के माध्यम से अंग्रेजी सहित अनेक भाषाओं तक समान पहुँच** का लक्ष्य रखना चाहिए। यही बिंदु भाषिक विविधता और समावेशी शिक्षण के बीच सबसे महत्वपूर्ण सैद्धांतिक पुल बनाता है: विद्यार्थी को उसकी भाषा से बाहर निकालकर ‘मुख्यधारा’ में लाने के बजाय मुख्यधारा को ही इतना व्यापक बनाया जाए कि उसकी भाषिक पहचान उसमें स्थान पा सके।

समावेशी कक्षा के लिए समाजशास्त्रीय शिक्षण-मॉडल

उपलब्ध शोध के आधार पर एक प्रभावी समावेशी बहुभाषी कक्षा की कुछ विशेषताएँ प्रस्तावित की जा सकती हैं।

भाषिक सर्वेक्षण: शिक्षक सत्र के आरंभ में विद्यार्थियों की भाषिक पृष्ठभूमि का सरल मानचित्र तैयार कर सकते हैं। इससे ‘एक भाषा = एक विद्यार्थी’ जैसी कृत्रिम धारणा से बचा जा सकता है।

भाषिक संसाधनों की वैधता : विद्यार्थियों की घरेलू भाषा को ‘गलत’ या ‘कमतर’ कहने के बजाय उसे ज्ञान-संसाधन के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। कक्षा में स्थानीय शब्द, कहावतें, लोककथाएँ और मौखिक इतिहास शामिल किए जा सकते हैं।

योजनाबद्ध ट्रांसलैंग्वेजिंग : शिक्षक कठिन अवधारणाओं को एक से अधिक भाषाओं में समझा सकते हैं; विद्यार्थी पहले अपनी सुविधाजनक भाषा में चर्चा करके बाद में लक्ष्य भाषा में उत्तर तैयार कर सकते हैं।

सहपाठी-मध्यस्थता: एक ही भाषिक समुदाय के विद्यार्थी अन्य विद्यार्थियों को समझने में मदद कर सकते हैं। इससे सहयोगात्मक अधिगम तथा सामाजिक एकीकरण दोनों बढ़ सकते हैं।

बहुभाषी मूल्यांकन : जहाँ संभव हो, **formative assessment** में विद्यार्थियों को अपनी सबसे मजबूत भाषा में अवधारणा स्पष्ट करने का अवसर दिया जा सकता है। इसके बाद लक्ष्य भाषा में अकादमिक भाषा विकसित की जा सकती है।

विद्यालयी ‘भाषिक दृश्यता’: कक्षा के पोस्टर, पुस्तकालय, सूचना-पट्ट, प्रार्थना/सांस्कृतिक कार्यक्रम और डिजिटल सामग्री में विद्यार्थियों की भाषाओं की उपस्थिति सुनिश्चित की जा सकती है। इससे भाषा के सामाजिक सम्मान का निर्माण होता है।

निष्कर्ष

भाषा की विविधता और समावेशी क्लासरूम टीचिंग के संबंध को समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है कि भाषाएँ समान सामाजिक शक्ति नहीं रखतीं। विद्यालयों में कुछ भाषाएँ ज्ञान, परीक्षा और रोजगार से जुड़ी ‘वैध’ भाषाएँ बन जाती हैं, जबकि अन्य भाषाएँ घरेलू या अनौपचारिक क्षेत्र तक सीमित कर दी जाती हैं। इस प्रक्रिया में भाषिक असमानता सामाजिक और शैक्षिक असमानता को पुनरुत्पादित कर सकती है। शास्त्रीय शोधों—विशेषकर Bernstein, Bourdieu और Cummins—ने भाषा, सामाजिक वर्ग, शक्ति और अधिगम के बीच संबंध समझने की आधारभूमि तैयार की। Cummins के भाषिक अंतर्निर्भरता मॉडल ने मातृभाषा और दूसरी भाषा को परस्पर प्रतिस्पर्धी न मानकर एक-दूसरे को समर्थित करने वाले संसाधन के रूप में देखने का रास्ता खोला। बाद में García और Wei के **translanguaging** दृष्टिकोण ने बहुभाषी विद्यार्थियों के भाषिक संसाधनों को एक गतिशील संपूर्णता के रूप में समझने की दिशा दी। भारतीय शोध इस सैद्धांतिक बहस को सामाजिक यथार्थ से जोड़ता है। दिल्ली और हैदराबाद की कक्षाओं में भाषाओं का वास्तविक मिश्रित प्रयोग, पश्चिम बंगाल के विद्यालयों में अल्पसंख्यक भाषाओं की सीमित दृश्यता तथा भारत में अंग्रेजी-क्षेत्रीय-आदिवासी भाषाओं का पदानुक्रम यह दिखाता है कि औपचारिक भाषा-नीति और कक्षा-व्यवहार के बीच अभी भी अंतर है। हालिया MultiEd शोध और 2026 के अध्ययनों से यह संकेत मिलता है कि यदि बहुभाषी शिक्षण को

योजनाबद्ध तरीके से लागू किया जाए तो यह विद्यार्थियों की समझ, सहभागिता और आत्मविश्वास को बढ़ा सकता है और अंग्रेजी सीखने को अनिवार्य रूप से नुकसान नहीं पहुँचाता।

अतः समावेशी कक्षा का आदर्श ‘एक कक्षा–एक भाषा’ नहीं, बल्कि **एक कक्षा–अनेक भाषिक संसाधन** होना चाहिए। शिक्षक को भाषा-नियंत्रक के बजाय भाषिक मध्यस्थ, सह-अध्येता और सांस्कृतिक सेतु की भूमिका निभानी होगी। नीति-निर्माताओं को भी केवल मातृभाषा की घोषणा करने के बजाय शिक्षक-प्रशिक्षण, बहुभाषी पाठ्यसामग्री, मूल्यांकन-सुधार और अल्पसंख्यक भाषाओं की संस्थागत दृश्यता पर निवेश करना होगा। अंततः भाषिक विविधता को समस्या मानने वाला विद्यालय सामाजिक असमानता को पुनरुत्पादित कर सकता है; जबकि भाषिक विविधता को संसाधन मानने वाला विद्यालय विद्यार्थियों की पहचान, ज्ञान और सहभागिता को शिक्षा की शक्ति में बदल सकता है। इस अर्थ में बहुभाषी समावेशी कक्षा केवल बेहतर teaching practice नहीं, बल्कि **शैक्षिक लोकतंत्र और सामाजिक न्याय की परियोजना** है।

संदर्भ सूची

1. Bernstein, B. (1971). *Class, Codes and Control, Vol. 1: Theoretical Studies towards a Sociology of Language*. Routledge & Kegan Paul.
2. Bourdieu, P. (1991). *Language and Symbolic Power*. Harvard University Press.
3. Cummins, J. (1981). Empirical and theoretical underpinnings of bilingual education. *Journal of Education*, 163(1), 16–29. शोध में BICS और CALP तथा L1–L2 अकादमिक अंतर्निर्भरता की अवधारणाएँ विकसित की गईं।
4. Cummins, J. (1983). Bilingualism and special education: Program and pedagogical issues. *Learning Disability Quarterly*, 6(4), 373–386.
5. Cummins, J. (2007). Rethinking monolingual instructional strategies in multilingual classrooms. *Canadian Journal of Applied Linguistics*, 10(2), 221–240.
6. Cummins, J. (2009). Multilingualism in the English-language classroom: Pedagogical considerations. *TESOL Quarterly*, 43(2), 317–321.
7. García, O., & Wei, L. (2014). *Translanguaging: Language, Bilingualism and Education*. Palgrave Macmillan.
8. Jha, A., & Dalal, G. (2024). Needs analysis for incorporating translanguaging in EMI/ELT classrooms: Exploring multiculturalism in NEP 2020. *Journal of Indian Education*, 50(1), 167–203.
9. Kaushal, S., & Guha, A. (2026). Negotiating multilingualism in Indian classrooms: Teacher-student communication in policy and practice. *Review of Educational Research*. OnlineFirst, 14 June 2026.

10. Mohanty, A. (2010). Languages, inequality and marginalization: Implications of the double divide in Indian multilingualism. *International Journal of the Sociology of Language*, 205, 131–154.
11. Mohanty, A. (2013). Multilingual education in India: Overcoming the language barrier and the burden of the double divide. In P. Siemund, I. Gogolin, M. E. Schulz, & J. Davydova (Eds.), *Multilingualism and Language Diversity in Urban Areas* (pp. 305–326). John Benjamins.
12. Mohanty, A. (2022). Linguistic human rights in education in India. In T. Skutnabb-Kangas & R. Phillipson (Eds.), *The Handbook of Linguistic Human Rights*. Wiley.
13. Tsimpli, I. M., & Lightfoot, A. (2020). India: Investigating multilingual classrooms. *International Institute for Educational Planning/UNESCO*.
14. UNESCO. (2025). *Bhasha Matters: State of the Education Report for India 2025—Mother Tongue and Multilingual Education*. UNESCO.
15. UNESCO. (2025). *Languages Matter: Global Guidance on Multilingual Education*. UNESCO.
16. British Council. (2026). *Multilingual Education (MultiEd) in India: Teaching, Learning and Assessment Research Project*. British Council.
17. *Measuring the multilingual reality: Lessons from classrooms in Delhi and Hyderabad*. (2021). *International Journal of Bilingual Education and Bilingualism*, 24(8), 2208–2228.
18. *Language visibility in multilingual schools: An empirical study of schoolscapes from India*. (2022). *International Journal of Multilingualism*.

महिला सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन मेरठ

अनु रानी

शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, चौधरी चरण सिंह यूनिवर्सिटी मेरठ

सारांश

महिला सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता किसी भी राष्ट्र के समग्र विकास के महत्वपूर्ण आधार हैं। जब महिलाओं को शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक संसाधनों, निर्णय लेने के अधिकार तथा समान अवसर प्राप्त होते हैं, तब वे न केवल अपने परिवार बल्कि समाज और राष्ट्र के विकास में भी प्रभावी भूमिका निभाती हैं। भारत सरकार द्वारा 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ', 'राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन', 'स्टैंड-अप इंडिया', 'प्रधानमंत्री मुद्रा योजना' तथा स्वयं सहायता समूहों जैसी अनेक योजनाओं के माध्यम से महिलाओं को आर्थिक एवं सामाजिक रूप से सशक्त बनाने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में महिला सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता के विभिन्न आयामों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है। अध्ययन में महिला शिक्षा, आर्थिक सहभागिता, कौशल विकास, सामाजिक स्थिति, राजनीतिक भागीदारी तथा सरकारी योजनाओं की भूमिका का विस्तृत अध्ययन किया गया है। यह शोध मुख्यतः द्वितीयक (Secondary) आँकड़ों पर आधारित है, जिनका संकलन पुस्तकों, शोध-पत्रों, सरकारी रिपोर्टों, जनगणना, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS), नीति आयोग तथा विभिन्न सरकारी वेबसाइटों से किया गया है।

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता महिलाओं के आत्मविश्वास, निर्णय क्षमता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। हालांकि ग्रामीण क्षेत्रों में अशिक्षा, लैंगिक भेदभाव, सामाजिक रूढ़ियाँ, घरेलू हिंसा, सीमित रोजगार अवसर तथा संसाधनों तक कम पहुँच जैसी समस्याएँ अभी भी महिला सशक्तिकरण में बाधा उत्पन्न करती हैं। इन चुनौतियों के समाधान हेतु गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, कौशल विकास, डिजिटल साक्षरता, वित्तीय समावेशन तथा प्रभावी नीति क्रियान्वयन आवश्यक है।

मुख्य शब्द: महिला सशक्तिकरण, आत्मनिर्भरता, महिला शिक्षा, आर्थिक विकास, समाजशास्त्र, लैंगिक समानता, स्वयं सहायता समूह।

परिचय

महिला सशक्तिकरण आधुनिक समाज के विकास का एक महत्वपूर्ण आधार है। किसी भी राष्ट्र की प्रगति का आकलन वहाँ की महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक स्थिति से किया जाता है। यदि महिलाओं को समान अवसर, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएँ, आर्थिक संसाधनों तक पहुँच तथा निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त हो, तो वे न केवल अपने जीवन को बेहतर बनाती हैं, बल्कि परिवार, समाज और राष्ट्र के समग्र विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। इसीलिए महिला सशक्तिकरण को सतत विकास, सामाजिक न्याय और लैंगिक समानता की आधारशिला माना जाता है।

भारत जैसे विकासशील देश में महिलाओं की स्थिति समय के साथ निरंतर परिवर्तित हुई है। वैदिक काल में महिलाओं को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, किन्तु मध्यकाल में अनेक सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों तथा लैंगिक असमानताओं के कारण उनकी स्थिति कमजोर हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान ने महिलाओं को समानता, स्वतंत्रता, शिक्षा, रोजगार तथा गरिमापूर्ण जीवन का अधिकार प्रदान किया। संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 16, 39 तथा 42 महिलाओं के अधिकारों की रक्षा और समान अवसर सुनिश्चित करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रावधान करते हैं।

वर्तमान समय में महिला सशक्तिकरण का अर्थ केवल महिलाओं को अधिकार प्रदान करना नहीं है, बल्कि उन्हें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक रूप से इतना सक्षम बनाना है कि वे अपने जीवन से जुड़े निर्णय स्वयं ले सकें और अपने अधिकारों का प्रभावी ढंग से उपयोग कर सकें। इसी प्रकार आत्मनिर्भरता का अर्थ है कि महिला अपनी आजीविका, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर पूर्णतः निर्भर न रहे, बल्कि अपने ज्ञान, कौशल और संसाधनों के आधार पर सम्मानपूर्वक जीवनयापन कर सके।

वैश्वीकरण, डिजिटलीकरण, औद्योगिकीकरण तथा सूचना प्रौद्योगिकी के विकास ने महिलाओं के लिए रोजगार और स्वरोजगार के नए अवसर उपलब्ध कराए हैं। स्वयं सहायता समूह, सूक्ष्म वित्त, डिजिटल बैंकिंग, ऑनलाइन उद्यमिता तथा कौशल विकास कार्यक्रमों ने महिलाओं की आर्थिक भागीदारी को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज महिलाएँ शिक्षा, विज्ञान, तकनीक, प्रशासन, न्यायपालिका, राजनीति, सेना, खेल, चिकित्सा, उद्योग तथा उद्यमिता सहित लगभग प्रत्येक क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ प्राप्त कर रही हैं।

भारत सरकार ने महिलाओं के सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने के लिए अनेक योजनाएँ संचालित की हैं, जिनमें बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ, प्रधानमंत्री मुद्रा योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन, स्टैंड-अप इंडिया, जन-धन योजना, सुकन्या समृद्धि योजना तथा विभिन्न राज्य स्तरीय महिला कल्याण योजनाएँ प्रमुख हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य महिलाओं को शिक्षा, कौशल, वित्तीय सहायता, स्वरोजगार तथा सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराना है।

इसके बावजूद अनेक चुनौतियाँ अभी भी विद्यमान हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अशिक्षा, लैंगिक भेदभाव, घरेलू हिंसा, बाल विवाह, दहेज प्रथा, सीमित रोजगार अवसर, डिजिटल असमानता तथा वित्तीय संसाधनों तक कम पहुँच महिलाओं के सशक्तिकरण में बाधक हैं। कई महिलाएँ शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं बन पातीं। सामाजिक रूढ़ियाँ और पारिवारिक प्रतिबंध भी उनके विकास की गति को प्रभावित करते हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से महिला सशक्तिकरण केवल व्यक्तिगत परिवर्तन नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक मान्यताओं, संस्थागत व्यवस्थाओं और लैंगिक संबंधों में परिवर्तन की प्रक्रिया है। जब महिलाएँ आर्थिक रूप से सक्षम होती हैं, तो परिवार में उनका निर्णय लेने का अधिकार बढ़ता है, बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य में सुधार होता है तथा समाज में समानता और सामाजिक न्याय को बढ़ावा मिलता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में महिला सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता के सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं नीतिगत आयामों का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि महिलाओं की आत्मनिर्भरता किन कारकों से प्रभावित होती है तथा सरकारी योजनाएँ और सामाजिक परिवर्तन इस प्रक्रिया में किस प्रकार योगदान देते हैं। यह शोध मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है और पुस्तकों, शोध-पत्रों, सरकारी रिपोर्टों तथा विश्वसनीय आँकड़ों के आधार पर विषय का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन नीति-निर्माताओं, शोधार्थियों, शिक्षकों तथा समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

अध्ययन के उद्देश्य (Objectives of the Study)

1. महिला सशक्तिकरण के सामाजिक, शैक्षिक एवं आर्थिक आयामों का अध्ययन करना।
2. महिलाओं की आत्मनिर्भरता में सरकारी योजनाओं, शिक्षा एवं आर्थिक अवसरों की भूमिका का विश्लेषण करना।

परिकल्पनाएँ (Hypotheses)

H₁: महिला सशक्तिकरण का महिलाओं की आत्मनिर्भरता पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

H₂: सरकारी योजनाएँ एवं शिक्षा महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

साहित्य समीक्षा (Review of Literature)

1. **नायला कबीर (1999)** नायला कबीर ने अपने अध्ययन में महिला सशक्तिकरण को संसाधनों (Resources), अभिकरण (Agency) तथा उपलब्धियों (Achievements) के संदर्भ में समझाया है। उनके अनुसार सशक्तिकरण केवल आर्थिक संसाधनों की उपलब्धता तक सीमित नहीं है, बल्कि महिलाओं की निर्णय लेने की क्षमता, आत्मविश्वास तथा सामाजिक भागीदारी का विकास भी इसका अभिन्न भाग है। अध्ययन में स्पष्ट किया गया कि शिक्षा एवं आर्थिक अवसर महिलाओं की आत्मनिर्भरता को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शोध यह भी बताता है कि जब महिलाओं को संसाधनों पर नियंत्रण प्राप्त होता है, तब परिवार एवं समाज में उनकी स्थिति अधिक सशक्त होती है।
2. **अमर्त्य सेन (1999)** अमर्त्य सेन ने अपनी क्षमता उपागम (Capability Approach) के माध्यम से बताया कि विकास का वास्तविक उद्देश्य लोगों की क्षमताओं और विकल्पों का विस्तार करना है। महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य एवं आर्थिक स्वतंत्रता उन्हें बेहतर निर्णय लेने में सक्षम बनाती है। उनके अनुसार लैंगिक समानता सामाजिक विकास की अनिवार्य शर्त है। अध्ययन में यह भी स्पष्ट किया गया कि महिलाओं में निवेश पूरे समाज के विकास को गति देता है।
3. **बीना अग्रवाल (2001)** बीना अग्रवाल ने महिलाओं के भूमि एवं संपत्ति अधिकारों का विस्तृत अध्ययन किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि जिन महिलाओं के पास संपत्ति पर अधिकार होता है, वे आर्थिक रूप से अधिक सुरक्षित एवं आत्मनिर्भर होती हैं। इससे परिवार में उनकी निर्णय क्षमता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ती है। अध्ययन महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता और सशक्तिकरण के बीच प्रत्यक्ष संबंध को रेखांकित करता है।
4. **मालहोत्रा, शूलर एवं बोएंडर (2002)** इन शोधकर्ताओं ने महिला सशक्तिकरण के विभिन्न आयामों—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक एवं कानूनी—का विश्लेषण किया। अध्ययन में बताया गया कि सशक्तिकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है जिसे केवल आय या रोजगार से नहीं मापा जा सकता। महिलाओं की शिक्षा, निर्णय क्षमता और सामाजिक सहभागिता भी इसके प्रमुख संकेतक हैं।

5. **विश्व बैंक (2012)** विश्व बैंक की रिपोर्ट में बताया गया कि महिला सशक्तिकरण से गरीबी में कमी आती है तथा आर्थिक विकास को गति मिलती है। रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा, स्वास्थ्य एवं वित्तीय सेवाओं तक समान पहुँच महिलाओं की उत्पादकता और आत्मनिर्भरता को बढ़ाती है। महिलाओं में निवेश का सकारात्मक प्रभाव परिवार और समुदाय दोनों पर पड़ता है।
6. **संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) (2015)** UNDP ने लैंगिक समानता को सतत विकास का प्रमुख आधार माना है। रिपोर्ट के अनुसार महिलाओं की शिक्षा, रोजगार, राजनीतिक भागीदारी तथा स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच बढ़ने से सामाजिक विकास की गति तेज होती है। अध्ययन में महिला सशक्तिकरण को सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) की प्राप्ति के लिए आवश्यक बताया गया है।
7. **राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (NRLM)** राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन पर आधारित विभिन्न अध्ययनों से ज्ञात होता है कि स्वयं सहायता समूहों (Self Help Groups) ने ग्रामीण महिलाओं की आय, बचत, वित्तीय समावेशन तथा सामाजिक भागीदारी में महत्वपूर्ण वृद्धि की है। इन समूहों ने महिलाओं में नेतृत्व क्षमता और आत्मविश्वास का भी विकास किया।
8. **राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS)** NFHS के विभिन्न चरणों के निष्कर्ष बताते हैं कि महिला शिक्षा, स्वास्थ्य एवं निर्णय लेने की क्षमता में निरंतर सुधार हुआ है। जिन महिलाओं की शिक्षा और आर्थिक भागीदारी अधिक है, वे स्वास्थ्य, बच्चों की शिक्षा तथा परिवार नियोजन से जुड़े निर्णयों में अधिक सक्रिय भूमिका निभाती हैं।
9. **नीति आयोग** नीति आयोग की विभिन्न रिपोर्टों में महिला उद्यमिता, कौशल विकास तथा डिजिटल साक्षरता को आत्मनिर्भर भारत की आधारशिला माना गया है। रिपोर्टों के अनुसार सरकारी योजनाओं, स्टार्टअप प्रोत्साहन एवं वित्तीय समावेशन ने महिलाओं के लिए स्वरोजगार के नए अवसर उपलब्ध कराए हैं।
10. **महिला एवं बाल विकास मंत्रालय** मंत्रालय की रिपोर्टों में बताया गया है कि 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ', 'वन स्टॉप सेंटर', 'सखी केंद्र' तथा अन्य योजनाओं ने महिलाओं की शिक्षा, सुरक्षा एवं सामाजिक जागरूकता में सकारात्मक योगदान दिया है। हालांकि ग्रामीण एवं वंचित क्षेत्रों में इन योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है।

महिला सशक्तिकरण एवं आत्मनिर्भरता के विभिन्न आयाम

1. सामाजिक सशक्तिकरण

महिला सशक्तिकरण का पहला और सबसे महत्वपूर्ण आयाम सामाजिक सशक्तिकरण है। इसका आशय महिलाओं को समाज में समान सम्मान, समान अवसर तथा भेदभाव-मुक्त वातावरण उपलब्ध कराना है। जब महिलाओं को शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा और सामाजिक निर्णयों में भागीदारी का अवसर मिलता है, तब उनका आत्मविश्वास बढ़ता है और वे अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक होती हैं।

आज भारतीय समाज में महिलाओं की सामाजिक स्थिति पहले की अपेक्षा बेहतर हुई है, फिर भी कई क्षेत्रों में बाल विवाह, दहेज प्रथा, घरेलू हिंसा, लैंगिक भेदभाव तथा पितृसत्तात्मक सोच जैसी समस्याएँ उनके विकास में बाधा उत्पन्न करती हैं। इन सामाजिक चुनौतियों को दूर किए बिना वास्तविक महिला सशक्तिकरण संभव नहीं है।

2. शैक्षिक सशक्तिकरण

शिक्षा महिला सशक्तिकरण का सबसे प्रभावी माध्यम है। शिक्षित महिला अपने अधिकारों और कर्तव्यों को बेहतर ढंग से समझती है, रोजगार के अवसर प्राप्त करती है तथा परिवार और समाज के विकास में अधिक प्रभावी भूमिका निभाती है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने बालिकाओं की शिक्षा, डिजिटल शिक्षा तथा कौशल विकास पर विशेष बल दिया है। आज उच्च शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा तथा ऑनलाइन शिक्षा के माध्यम से महिलाओं के लिए नए अवसर उपलब्ध हो रहे हैं। फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यालय छोड़ने की समस्या, आर्थिक कठिनाइयाँ तथा सामाजिक रूढ़ियाँ अभी भी अनेक बालिकाओं की शिक्षा में बाधक हैं।

3. आर्थिक आत्मनिर्भरता

आर्थिक आत्मनिर्भरता महिला सशक्तिकरण की आधारशिला है। जब महिला स्वयं आय अर्जित करती है, तो उसका आत्मविश्वास बढ़ता है तथा परिवार में उसकी निर्णय लेने की क्षमता भी मजबूत होती है।

भारत में स्वयं सहायता समूह (Self Help Groups), सूक्ष्म वित्त (Microfinance), राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन, प्रधानमंत्री मुद्रा योजना तथा स्टैंड-अप इंडिया जैसी योजनाओं ने लाखों महिलाओं को स्वरोजगार और उद्यमिता के अवसर प्रदान किए हैं। आज महिलाएँ कृषि,

लघु उद्योग, हस्तशिल्प, डेयरी, ई-कॉमर्स, ऑनलाइन व्यवसाय और सेवा क्षेत्र में सफल उद्यमी के रूप में अपनी पहचान बना रही हैं।

4. राजनीतिक सशक्तिकरण

लोकतांत्रिक व्यवस्था में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी अत्यंत आवश्यक है। पंचायतों और नगरीय निकायों में महिलाओं के लिए आरक्षण ने स्थानीय स्तर पर महिला नेतृत्व को बढ़ावा दिया है। इससे महिलाओं की निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी बढ़ी है तथा स्थानीय विकास कार्यों में उनकी भूमिका अधिक प्रभावी हुई है।

राजनीतिक सशक्तिकरण केवल चुनाव लड़ने तक सीमित नहीं है, बल्कि नीति निर्माण, प्रशासन और सार्वजनिक जीवन में समान भागीदारी सुनिश्चित करना भी इसका उद्देश्य है।

5. कानूनी सशक्तिकरण

भारतीय संविधान महिलाओं को समानता, स्वतंत्रता और गरिमापूर्ण जीवन का अधिकार प्रदान करता है। घरेलू हिंसा से संरक्षण अधिनियम, कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न से संरक्षण अधिनियम, दहेज निषेध अधिनियम तथा बाल विवाह प्रतिषेध अधिनियम जैसे अनेक कानून महिलाओं के अधिकारों की रक्षा करते हैं।

कानूनों के प्रभावी क्रियान्वयन के साथ-साथ महिलाओं में कानूनी जागरूकता बढ़ाना भी अत्यंत आवश्यक है, ताकि वे अपने अधिकारों का प्रभावी उपयोग कर सकें।

6. डिजिटल एवं तकनीकी आत्मनिर्भरता

डिजिटल युग में तकनीकी ज्ञान महिलाओं की आत्मनिर्भरता का महत्वपूर्ण आधार बन चुका है। ऑनलाइन बैंकिंग, डिजिटल भुगतान, ई-कॉमर्स, ऑनलाइन शिक्षा तथा डिजिटल मार्केटिंग के माध्यम से महिलाएँ घर बैठे भी आर्थिक गतिविधियों से जुड़ सकती हैं।

डिजिटल साक्षरता विशेष रूप से ग्रामीण महिलाओं के लिए नए अवसरों के द्वार खोल रही है। हालांकि इंटरनेट और तकनीकी संसाधनों तक असमान पहुँच अभी भी एक चुनौती बनी हुई है।

महिला सशक्तिकरण में प्रमुख चुनौतियाँ

महिलाओं की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार के बावजूद अनेक समस्याएँ आज भी उनके सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता में बाधा उत्पन्न करती हैं—

- लैंगिक भेदभाव
- बाल विवाह

- दहेज प्रथा
- घरेलू हिंसा
- अशिक्षा
- बेरोजगारी
- समान कार्य के लिए असमान वेतन
- संपत्ति एवं संसाधनों पर सीमित अधिकार
- डिजिटल असमानता
- वित्तीय सेवाओं तक सीमित पहुँच
- सामाजिक रूढ़ियाँ एवं पितृसत्तात्मक मानसिकता

इन चुनौतियों के समाधान के लिए सरकार, समाज, परिवार तथा स्वयं महिलाओं के संयुक्त प्रयास आवश्यक हैं।

शोध प्रविधि (Research Methodology)

1. अध्ययन की प्रकृति

यह अध्ययन वर्णनात्मक (Descriptive) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) प्रकृति का है। इसमें महिला सशक्तिकरण एवं आत्मनिर्भरता के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं नीतिगत पहलुओं का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है।

2. अध्ययन का प्रकार

यह एक द्वितीयक (Secondary Data Based) अध्ययन है। अध्ययन के लिए किसी प्राथमिक सर्वेक्षण का उपयोग नहीं किया गया है, बल्कि प्रकाशित एवं प्रमाणिक स्रोतों से प्राप्त तथ्यों और आँकड़ों का विश्लेषण किया गया है।

3. आँकड़ों के स्रोत

अध्ययन के लिए निम्नलिखित द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है—

- पुस्तकों एवं संदर्भ ग्रंथों से
- शोध-पत्र एवं शोध-प्रबंध
- भारत सरकार के महिला एवं बाल विकास मंत्रालय की रिपोर्टें
- राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS)
- जनगणना (Census of India)

- नीति आयोग की रिपोर्टें
- राष्ट्रीय सांख्यिकी कार्यालय (NSO) के आँकड़े
- विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं शोध संस्थानों के प्रकाशित अध्ययन
- राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय शोध पत्रिकाएँ

4. अध्ययन की प्रविधि

उपलब्ध साहित्य, सरकारी रिपोर्टों तथा शोध अध्ययनों का तुलनात्मक एवं विषय-वस्तु विश्लेषण (Content Analysis) किया गया है। प्राप्त तथ्यों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हुए महिला सशक्तिकरण एवं आत्मनिर्भरता के मध्य संबंधों को स्पष्ट किया गया है।

5. अध्ययन का महत्व

यह अध्ययन महिला सशक्तिकरण से संबंधित नीतियों, योजनाओं एवं सामाजिक परिवर्तनों को समझने में सहायक होगा। साथ ही यह शोधार्थियों, विद्यार्थियों, शिक्षकों एवं नीति-निर्माताओं के लिए उपयोगी संदर्भ सामग्री प्रदान करेगा।

6. अध्ययन की सीमाएँ

- अध्ययन पूर्णतः द्वितीयक आँकड़ों पर आधारित है।
- निष्कर्ष उपलब्ध साहित्य एवं प्रकाशित रिपोर्टों तक सीमित हैं।
- विभिन्न स्रोतों के आँकड़ों में समय एवं क्षेत्र के अनुसार अंतर हो सकता है।
- अध्ययन का उद्देश्य व्यापक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना है, किसी विशिष्ट क्षेत्र का प्रत्यक्ष सर्वेक्षण करना नहीं।

महिला सशक्तिकरण के लिए सुझाव

1. महिलाओं की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सुनिश्चित की जाए।
2. कौशल विकास एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रमों का विस्तार किया जाए।
3. स्वयं सहायता समूहों एवं महिला उद्यमिता को प्रोत्साहित किया जाए।
4. डिजिटल साक्षरता एवं वित्तीय साक्षरता को बढ़ावा दिया जाए।
5. सरकारी योजनाओं का प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाए।
6. महिलाओं को संपत्ति एवं उत्तराधिकार के अधिकारों के प्रति जागरूक किया जाए।
7. घरेलू हिंसा एवं लैंगिक भेदभाव के विरुद्ध कठोर कार्रवाई की जाए।
8. ग्रामीण एवं वंचित क्षेत्रों में रोजगार के अधिक अवसर सृजित किए जाएँ।
9. महिला स्वास्थ्य एवं पोषण संबंधी सेवाओं को सुदृढ़ किया जाए।

10. समाज में लैंगिक समानता और सम्मान की संस्कृति को बढ़ावा दिया जाए।

11.

निष्कर्ष (Conclusion)

महिला सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता किसी भी लोकतांत्रिक एवं विकासशील समाज की प्रगति के प्रमुख आधार हैं। वर्तमान अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि महिलाओं का सशक्तिकरण केवल उन्हें अधिकार प्रदान करने तक सीमित नहीं है, बल्कि उन्हें सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक तथा कानूनी रूप से सक्षम बनाना भी आवश्यक है। जब महिलाएँ शिक्षित, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर तथा निर्णय लेने में सक्षम होती हैं, तब वे अपने परिवार, समुदाय और राष्ट्र के विकास में अधिक प्रभावी योगदान देती हैं।

अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ कि शिक्षा महिला सशक्तिकरण की आधारशिला है। शिक्षित महिलाएँ रोजगार, उद्यमिता, स्वास्थ्य, वित्तीय प्रबंधन तथा सामाजिक भागीदारी में अधिक सक्रिय रहती हैं। इसी प्रकार आर्थिक आत्मनिर्भरता महिलाओं के आत्मविश्वास, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा पारिवारिक निर्णयों में उनकी भागीदारी को सुदृढ़ बनाती है।

भारत सरकार द्वारा संचालित विभिन्न योजनाएँ, जैसे बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ, राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (NRLM), प्रधानमंत्री मुद्रा योजना, स्टैंड-अप इंडिया, सुकन्या समृद्धि योजना तथा स्वयं सहायता समूहों (SHGs) ने महिलाओं के आर्थिक एवं सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन योजनाओं के माध्यम से महिलाओं को स्वरोजगार, ऋण, कौशल विकास, वित्तीय समावेशन तथा सामाजिक सुरक्षा के अवसर प्राप्त हुए हैं। इसके बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों में इन योजनाओं की पहुँच और प्रभावशीलता को और मजबूत बनाने की आवश्यकता है।

अध्ययन यह भी दर्शाता है कि आज भी अनेक महिलाएँ सामाजिक कुरीतियों, लैंगिक भेदभाव, घरेलू हिंसा, बाल विवाह, दहेज प्रथा, डिजिटल असमानता तथा सीमित आर्थिक अवसरों जैसी चुनौतियों का सामना कर रही हैं। विशेष रूप से ग्रामीण एवं आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों की महिलाओं के लिए शिक्षा, रोजगार तथा वित्तीय संसाधनों तक समान पहुँच सुनिश्चित करना आवश्यक है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से महिला सशक्तिकरण एक सतत सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है, जिसमें परिवार, समुदाय, शिक्षा व्यवस्था, सरकार, नागरिक समाज तथा निजी क्षेत्र सभी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। केवल सरकारी योजनाएँ पर्याप्त नहीं हैं; सामाजिक मानसिकता, लैंगिक समानता तथा महिलाओं के प्रति सम्मानजनक दृष्टिकोण का विकास भी उतना ही आवश्यक है।

अतः यह कहा जा सकता है कि महिला सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि महिलाओं को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, कौशल विकास, रोजगार के अवसर, वित्तीय संसाधनों तक पहुँच,

समान अधिकार तथा सुरक्षित सामाजिक वातावरण उपलब्ध कराया जाए, तो वे न केवल स्वयं आत्मनिर्भर बनेंगी बल्कि भारत के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास को भी नई दिशा देंगी। इसलिए महिला सशक्तिकरण को केवल कल्याणकारी कार्यक्रम के रूप में नहीं, बल्कि सतत विकास, सामाजिक न्याय और समावेशी राष्ट्र निर्माण की दीर्घकालिक रणनीति के रूप में देखा जाना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. Agarwal, B. (2001). *Gender and Land Rights in South Asia*. Cambridge University Press.
2. Kabeer, N. (1999). Resources, Agency, Achievements: Reflections on the Measurement of Women's Empowerment. *Development and Change*, 30(3), 435–464.
3. Sen, A. (1999). *Development as Freedom*. Oxford University Press.
4. Malhotra, A., Schuler, S. R., & Boender, C. (2002). *Measuring Women's Empowerment as a Variable in International Development*. World Bank.
5. World Bank. (2012). *World Development Report 2012: Gender Equality and Development*.
6. United Nations Development Programme. (2015). *Human Development Report*.
7. United Nations. (2015). *Transforming Our World: The 2030 Agenda for Sustainable Development*.
8. Ministry of Women and Child Development, Government of India. (2023). *Annual Report*.
9. NITI Aayog. (2023). *Women Entrepreneurship Platform Report*.
10. National Family Health Survey (NFHS-5). (2019–21). *International Institute for Population Sciences (IIPS)*.
11. Census of India. (2011). *Office of the Registrar General & Census Commissioner, India*.
12. National Statistical Office (NSO). (2023). *Women and Men in India*.
13. Ministry of Rural Development. (2023). *National Rural Livelihood Mission Guidelines*.
14. Government of India. (2023). *Economic Survey of India*.
15. Planning Commission of India. (2014). *Inclusive Growth Report*.

ग्रामीण महिला सशक्तिकरण में स्वयं सहायता समूह की भूमिका: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

कामिनी सिंह

शोध छात्राए समाजशास्त्र विभाग,
विश्वविद्यालय, लखनऊ

सारांश

ग्रामीण भारत में महिलाओं का सशक्तिकरण सामाजिक न्याय, आर्थिक एवं लैंगिक समानता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम रहा है राज्य एवं स्वयं सहायता समूह इस प्रक्रिया के प्रमुख सहभागिता के रूप में उभरे हैं आज तक देश एवं प्रदेश में महिलाओं के सशक्तिकरण में अपने अपने तरीके से महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। ग्रामीण स्तर पर स्वयं सहायता समूह ने महिलाओं को जागरूक करने, इनके उत्थान के लिए अनेक प्रयास किये गये जिसका नतीजा रहा है कि देश की आधी आबादी प्रगति के रास्ते पर काफी तेजी से आगे बढ़ रही है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य स्वयं सहायता समूह एवं भूमिका का समाजशास्त्रीय परिपेक्ष्य में विश्लेषण करना है जिसमें आर्थिक, आत्मनिर्भरता, सामाजिक भागीदारी, निर्णय निर्माण क्षमता तथा लैंगिक चेतना पर इसके प्रभाव का अध्ययन किया गया है, अध्ययन से स्पष्ट होता है स्वयं सहायता समूह ग्रामीण महिलाओं के जीवन में सकारात्मक परिवर्तन लाने में सक्षम रहे हैं।

मुख्य शब्द : महिला सशक्तिकरण, स्वयं सहायता समूह, ग्रामीण विकास, समाजशास्त्रीय अध्ययन, आर्थिक, आत्मनिर्भरता, सामाजिक भागीदारी, लैंगिक चेतना

प्रस्तावना :

विश्व में ऐसा कोई देश नहीं है जहां महिलाओं को सशक्त किये बिना विकास सम्भव हो महिलाओं को विकास में शामिल किये बिना समाज की आधी आबादी सामाजिक विकास से अधूरी रह जायेगी। भारत का सपना तब तक पूरा नहीं हो सकता है जब तक हम महिलाओं को शामिल नहीं करेंगे खासकर ग्रामीण भारत को सशक्त बनाने के लिए ग्रामीण महिलाओं के लिए विकास के रास्ते खोलने पड़ेगें, स्वयं सहायता समूह, महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। वास्तव में स्वयं सहायता समूह गांव की महिलाओं का एक ऐसा संगठन है जो अपनी इच्छा से संगठित होकर नियमित रूप से थोड़ी-थोड़ी सामूहिक निधि जमा करते हैं ग्रामीण महिलाओं को सीमित आर्थिक

सम्पत्ति, शिक्षा, रोजगार न मिल पाने, सामाजिक रूढ़िवादिता एवं पुरुषसत्ता के नियंत्रण की वजह से सामाजिक विकास में मुख्य रूप से फायदा नहीं मिला इन रूकावटों को दूर करने के लिए स्वयं सहायता समूह एक मजबूत सामाजिक समूह बनकर उभरें जिससे ग्रामीण महिलाओं को साथ-साथ काम करने, आत्म निर्भर बनने का मौका मिला इसमें राज्य ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जिससे इन सामाजिक समूहों को आर्थिक सहयोग से लेकर सभी तरह का सहयोग किया। वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश एवं देश में राज्य द्वारा स्वयं सहायता समूह की संख्या में वृद्धि की गयी जिससे महिलाओं को तमाम तरह के अवसर प्रदान हुए सामाजिक और आपसी सहयोग के साथ-साथ आर्थिक स्वावलंबन स्वयं सहायता समूह का आधार है। ये मॉडल महिलाओं में आत्मविश्वास, लीडरशिप, जागरूकता, फैसले लेने के लिए भी तैयार करता है, मौजूदा समय में पता चलता है की जो महिलायें स्वयं सहायता समूह से जुड़ी हैं वे घर व बाहर फैसले लेने में अन्य महिलाओं से आगे हैं इस तरह से स्वयं सहायता समूह आर्थिक संगठन है जो खासकर महिलाओं को जागरूकता, सामाजिक चेतना के रूप में कार्य करते हैं। स्वयं सहायता समूह छोटे-छोटे समूह होते हैं जिसमें ग्रामीण पृष्ठभूमि की महिलायें नियमित रूप से मिलती हैं और कार्य करती हैं, और बचत करती हैं और आवश्यकता पड़ने पर ऋण भी लेती हैं इस प्रकार से उन्हें अन्य महिलाओं की तुलना में सशक्त बनाती हैं और उन्हें आत्म निर्भरता की ओर अग्रसर करती हैं, इसके साथ ही स्वयं सहायता समूह की मासिक बैठक एवं सामाजिक चर्चा भी होती है।

स्वयं सहायता समूह ग्रामीण महिलाओं के लिए एक सुरक्षित और सामूहिक वातावरण तैयार करता है जिससे वे वहां सभी साथ-साथ मिलकर कार्य करती हैं इससे उनका स्वयं आत्म विश्वास बढ़ता है और सामाजिक जीवन में भाग लेने में सक्षम भी होती हैं, और अपने मुद्दों को भी उठाती हैं इसके साथ साथ निर्णय प्रक्रिया को भी अधिक समावेशी, न्यायसंगत और प्रभावी बनाती हैं। स्वयं सहायता समूह ग्रामीण महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने और सामाजिक कार्यों को मजबूत करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

इसको बढ़ावा देने के लिए सरकार ने विभिन्न योजनाएं संचालित की जिनमें दीनदयाल अत्योदय योजना-राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन प्रमुख है, इस योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण पारिवारों विशेषकर महिलाओं को स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से संगठित कर उन्हें आर्थिक एवं सामाजिक रूप से सशक्त बनाना है। स्वयं सहायता समूह सामान्यता 10 से 20 महिलाओं का एक स्वैच्छिक समूह होता है जो नियमित रूप से बचत करते हुए आपसी गतिविधियों के माध्यम से उनकी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करता है उत्तर प्रदेश सरकार ने उत्तर प्रदेश ग्रामीण राज्य आजीविका मिशन के माध्यम से लाखों महिलाओं को स्वयं सहायता समूह से जोड़ा जिससे महिलाओं को रोजगार, डेरी, पशुपालन, कृषि, लघु उद्योग, सिलाई कढ़ाई से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

साहित्य समीक्षा:— स्वयं सहायता समूह से सम्बन्धित साहित्य समीक्षा निम्नलिखित है:—

अमर्त्य सेन (1999) ने अपनी पुस्तक *कमअमसवचउमदज* में विकास को केवल आर्थिक वृद्धि न मानकर मानव क्षमताओं के विस्तार के रूप में परिभाषित किया है, उनके अनुसार महिलाओं को आर्थिक अवसर प्रदान करना वास्तविक विकास नहीं है उन्हें सामाजिक अवसर भी प्रदान करने होंगे।

नैला कबीर (1999) ने कहा की महिला सशक्तिकरण का अर्थ है महिलाओं को उन विकल्पों को चुनने की क्षमता का विस्तार है जिनसे वे पहले वंचित रही है।

छात्रत्व ;2019 की रिपोर्ट के अनुसार स्वयं सहायता समूहों ने ग्रामीण महिलाओं की बचत की प्रवृत्ति, बैंकिंग सेवाओं तक पहुंच तथा वित्तीय समावेशन को उल्लेखनीय रूप से बढ़ावा दिया है।

योजना आयोग (2011) ने अपने निष्कर्षों में स्पष्ट किया है कि स्वयं सहायता समूह महिलाओं के सामाजिक जागरूकता, महिला स्वावलंबन, सामाजिक चेतना तथा स्थानीय शासन में भागीदारी को प्रोत्साहित करते हैं

हाल ही में दीनदयाल अंत्योदय योजना-राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (डी.ए.वाई.-एन.आर.एल.एम.) एवं उत्तर प्रदेश ग्रामीण राज्य आजीविका मिशन (यू.पी.एस.आर.एल.एम.) की विभिन्न रिपोर्टों से पता चलता है कि स्वयं सहायता समूह ने महिलाओं के आर्थिक विकास के साथ साथ सामाजिक नेतृत्व एवं सामुदायिकता भागीदारी को भी बढ़ावा देते हैं।

शर्मा (2019) ने अपने अध्ययनों में पाया कि स्वयं सहायता समूह के माध्यम से महिलाओं में नेतृत्व क्षमता और सामाजिक जागरूकता का विकास होता है जो उन्हें ग्रामीण क्षेत्र में सक्रिय भागीदारी के लिए प्रेरित करता है।

विश्व बैंक (2021) ने ये निष्कर्ष निकाला है कि स्वयं सहायता समूह महिलाओं को सामूहिक शक्ति प्रदान करते हैं जिससे वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होती हैं तथा स्थानीय शासन में अपनी भागीदारी बढ़ाती हैं।

अध्ययन के उद्देश्य:-

इस शोध पत्र के निम्न उद्देश्य हैं।

1. ग्रामीण महिलाओं के सामाजिक आर्थिक सशक्तिकरण में स्वयं सहायता समूहों की भूमिका का अध्ययन करना।
2. ग्रामीण महिलाओं की आय एवं रोजगार पर स्वयं सहायता समूहों के प्रभाव का विश्लेषण करना।
3. ग्रामीण महिलाओं के वित्तीय समावेशन का मूल्यांकन करना।
4. घरेलू एवं सामूहिक निर्णयों में महिलाओं की भागीदारी का अध्ययन करना।
5. स्वयं सहायता समूहों के समक्ष विद्यमान चुनौतियों की पहचान करना।
6. स्वयं सहायता समूहों को अधिक प्रभावी बनाने हेतु सुझाव प्रस्तुत करना।

स्वयं सहायता समूह :

स्वयं सहायता समूह ग्रामीण महिलाओं का एक संगठन है जो उन्हें आर्थिक और सामाजिक रूप से सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है और आमतौर पर स्वयं सहायता समूह में 10 से 15 महिलाओं का समूह तैयार होता है जो एक ही सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि से होती है ये समूह एक विशेष समय पर बैठक करता, जिसमें सदस्य अपनी छोटी-छोटी बचत जमा करते और आवश्यकता पड़ने पर समूह से ऋण भी लेते हैं स्वयं सहायता समूह वित्तीय समावेशन का एक सशक्त माध्यम बनाते हैं खासकर उन ग्रामीण महिलाओं के लिए जो बैंकिंग प्रणाली से दूर रहती हैं।

स्वयं सहायता समूह केवल आर्थिक गतिविधियों तक सीमित नहीं हैं बल्कि यह सामाजिक और सामुदायिक विकास के लिए भी कार्य करती है, समूह में बैठक के दौरान महिलायें अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक मददों पर चर्चा करती हैं जिससे उनमें कौशल एवं सामूहिक निर्णय लेने की क्षमता विकसित होती है इसके साथ साथ स्वयं सहायता समूह के माध्यम से महिलाओं को विभिन्न सरकारी योजनाओं जैसे— स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार और तमाम जानकारी भी प्राप्त होती है, स्वयं सहायता समूह ग्रामीण महिलाओं के लिए एक ऐसा मंच जहां न केवल आर्थिक रूप से सशक्त बनती बल्कि सामाजिक रूप से भी जागरूक और सक्रिय नागरिक के रूप में भी उभरती हैं।

स्वयं सहायता समूह एवं महिला सशक्तिकरण:—

स्वयं सहायता समूह महिलाओं के बहुआयामी सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण साधन है जो उन्हें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक रूप से सशक्त बनाता है, आर्थिक विकास के अंतर्गत स्वयं सहायता समूह महिलाओं को बचत और ऋण की सुविधा प्रदान करते हैं जिससे लघु उद्योग शुरू किये जाते हैं और अपनी आय में वृद्धि भी करती है इससे उन्हें आर्थिक स्वावलंबी बनने का भी अवसर प्राप्त होता है और परिवार में निर्णय लेने में भी सहयोगी होती हैं।

सामाजिक सशक्तिकरण के स्तर पर स्वयं सहायता समूह महिलाओं के आत्म विश्वास और आत्मसम्मान को बढ़ाते हैं समूहों की बैठकों के माध्यम से सभी प्रकार के मुद्दों पर विचार विमर्श किया जाता है और खुलकर अपनी बात रख पाती है इससे उनकी पहचान एक सक्रिय सामाजिक सदस्य के रूप में स्थापित होती है। इसके साथ साथ सामाजिक मुद्दों को लेकर भी जागरूक होती हैं और उन्हें नये-नये अवसर भी प्रदान होते हैं।

ग्रामीण महिला भागीदारी एवं स्वयं सहायता समूह का प्रभाव:—

स्वयं सहायता समूह का ग्रामीण महिलाओं की भागीदारी पर सकारात्मक और व्यापक प्रभाव देखा गया है। जो महिलायें स्वयं सहायता समूह से जुड़ी हैं वे अधिक जागरूक, आत्मविश्वासी और संगठित होती हैं जिससे वे ग्रामीण भागीदारी में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रेरित होती हैं इससे प्राप्त जानकारी के माध्यम से जानकारी और अनुभव उन्हें ये समझने में मदद करते हैं स्वयं सहायता समूह उन्हें सामूहिक शक्ति प्रदान करते

है जिससे वे अपने मुद्दे और प्रभावी ढंग से उठा सकती है कि जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य और स्वच्छता जैसी समस्याओं को भी सामूहिक रूप से भी प्रस्तुत करती है और उनके समाधान के लिए भी प्रयास करती है इसके साथ साथ नेतृत्व क्षमता का भी विकास होता है जिससे ग्रामीण स्तर पर वे महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाने के लिए तैयार होती है इस प्रकार स्वयं सहायता समूह ग्रामीण महिलाओं को अधिक समावेशी और सहभागी बनाते हैं, और ग्रामीण महिलाएं जितना सक्रिय रूप से भाग लेती है उतना ही वह अधिक प्रभावी और न्यायसंगत भी बनती है यह न केवल महिलाओं के लिए सशक्तीकरण में बढ़ावा देती है बल्कि सम्पूर्ण ग्रामीण महिलाओं के विकास में भी योगदान देता है

आजीविका और उद्यमिता:-

स्वयं सहायता समूह की दूसरी बड़ी भूमिका आजीविका सृजन में दिखायी देती है, ग्रामीण महिलाओं की आय अक्सर कृषि मजदूरी, मौसमी काम तथा घरेलू उत्पादन तक सीमित रहता है। स्वयं सहायता समूह आधारित मॉडल उन्हें डेरी, सिलाई, हस्तशिल्प, लघु उद्योग आदि गतिविधियों और छोटे-छोटे व्यापारों से जोड़ता है, कालेक्टर्स के तहत आजीविका को एक प्रमुख घटक माना गया है और इसके अंतर्गत लाखों महिलाओं को लाभ मिला है किसी भी स्वयं सहायता समूह की सदस्य को सूक्ष्म ऋण और प्रशिक्षण मिलने पर वह आचार, पापड़, साबुन, अगरबत्ती आदि सामानों को बना कर स्थानीय बाजार में बेच सकती है और इससे उसके आय स्रोत में वृद्धि होती है और उसका सामाजिक और आर्थिक विकास होता साथ साथ उसके पारिवार की आय में वृद्धि होती है। कई शोध ये बताते हैं कि स्वयं सहायता समूह की सदस्य महिलाओं की निर्णय क्षमता, आत्मविश्वास और सामाजिक प्रगति में सुधार हुआ है ग्रामीण समाज में जहां महिलाओं की सीमित गतिशीलता होती है वहां पर स्वयं सहायता समूहों ने उन्हें बैंक, पंचायत, स्वास्थ्य केन्द्र और सरकारी कार्यालयों तक पहुंचने का विश्वास देते हैं।

स्वयं सहायता समूह के प्रमुख कार्य:- स्वयं सहायता समूह के अनेक कार्य होते हैं जो निम्न हैं:-

1. नियमित बचत कराना।
2. सदस्यों को आंतरिक ऋण लेना - देना।
3. महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाना।
4. बैंक ऋण उपलब्ध कराना।
5. आय गतिविधियां शुरू कराना।
6. प्रशिक्षण और कौशल प्राप्त कराना।
7. साहूकारों पर निर्भरता में कमी।
8. निर्णय लेने की क्षमता पर जोर।
9. लघु उद्योग को बढ़ावा देना।
10. सामाजिक एवं आर्थिक स्वाभिलंबन बनाना।

चुनौतियाँ— स्वयं सहायता समूह के अनुभवों में कई चुनौतियाँ सामने आयी हैं:—

1. इसमें सबसे बड़ी चुनौती प्रशिक्षण की आती है पर्याप्त संसाधन उपलब्ध न होने के कारण प्रशिक्षण प्राप्त करने में समस्याओं का सामना करना पड़ता है।
2. ग्रामीण महिलाओं में कम शिक्षा की भी एक प्रमुख चुनौती उभरकर आती है जिससे सीमित वित्तीय साक्षरता बैंकिंग प्रक्रिया आदि।
3. सामाजिक एवं लैंगिक सबसे बड़ी चुनौती है आज भी ग्रामीण भारत में पुरुषसत्ता होने की वजह से पुरुषों का सभी क्षेत्रों पर प्रभाव है।
4. सामाजिक प्रतिबन्ध एक सबसे बड़ी चुनौती के रूप में है महिलाओं को सार्वजनिक जीवन में जाने से रोका जाता है लोक-लज्जा की वजह से कई महिलाएं घर से बाहर नहीं जा पाती हैं।
5. समय की कमी क्योंकि ग्रामीण महिलाएं घरेलू कार्यों और पारिवारिक जिम्मेदारियों में व्यस्त रहती हैं जिससे उनके पास समय का बड़ा अभाव रहता है।

इन चुनौतियों को दूर करने के लिए हमें सतत प्रयासों की आवश्यकता है तभी ग्रामीण महिलाएं और सशक्तिकरण हो पायेगी।

निष्कर्ष :

इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि स्वयं सहायता समूह ग्रामीण महिलाओं को सशक्त बनाने में अत्यन्त प्रभावी और महत्वपूर्ण है स्वयं सहायता समूह ग्रामीण महिलाओं को आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक रूप से जागरूक करके सशक्त बनाता है और निर्णय प्रक्रिया में शामिल होने के लिए प्रेरित भी करता है इसके माध्यम से महिलाएं न केवल जागरूक हुयी हैं बल्कि उनमें आत्मविश्वास, नेतृत्व क्षमता और सामाजिक जागरूकता का भी विकास होता है, ग्रामीण विकास में भी काफी योगदान भी करती हैं सामूहिक रूप से मिलने पर एक अनुभव, विचार साझा होते हैं तो विकास, योजनाएं अधिक संतुलित और न्यायसंगत बनाती हैं इस दिशा में कई चुनौतियाँ आज भी जैसे पितृसत्ता, शिक्षा, सामाजिक प्रतिबन्ध इन बाधाओं को दूर करने के लिए सरकार, सामूहिक प्रसास, सामूहिक संगठन आदि मिलकर लगातार कार्य कर रहे हैं और हम सभी को इस रूढ़िवादी मानसिकता से निपटना होगा और समान अवसर प्रदान करने होंगे तभी परिवार, समाज, देश की तरक्की सम्भव होगी निष्कर्षता यह कहा जा सकता है कि यदि स्वयं सहायता समूह को और अधिक सशक्त किया जाए तो और बेहतर परिणाम देखने को मिलेंगे। सहभागिता भी बढ़ेगी इससे न केवल महिलाओं का सशक्तिकरण होगा बल्कि ग्रामीण विकास को नयी दिशा मिलेगी।

सन्दर्भ सूची: :

1. कुमार, आर. (2018): ग्रामीण भारत में महिला सशक्तिकरण में स्वयं सहायता समूहों की भूमिका, नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.।
2. शर्मा. पी. (2019) ग्रामीण महिलाओं में नेतृत्व क्षमता और सामाजिक जागरूकता एवं स्वयं सहायता समूहों का प्रभाव, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज, 7(2), 45–52।
3. छजपवदंस ठंदा वित ।हतपबनसजनतम दंक त्ततंस कमअमसवचउमदज ;2020द्धरु भारत में माइक्रोफाइनेंस की स्थिति (2019–2020), मुंबई : नाबार्ड।
4. वतसक ठंदा ;2021द्धण स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से महिला सशक्तीकरण, वाशिंगटन, डी.सी.।
5. सिंह, ए. (2017) : ग्रामीण महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण स्वयं सहायता समूहों की भूमिका, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
6. पाण्डेय, शशि (2016) : स्वयं सहायता समूह, लघु ऋण एवं महिला सशक्तिकरण – एक अध्ययन, पदजमतदंजपवदंस श्रवणतदंस वी।कअंदबम दंक ववपंस बपमदबमेए पृ0 सं0 64।
7. गुप्ता एवं एस0, स्वयं सहायता समूहों के द्वारा ग्रामीण भारत का विकास, कुरुक्षेत्र, पृ0 सं0 24।
8. [ीजजचरुद्धहववहसमण्दतसउणहवअण्पद](#)
9. हववहसमू पापचमकपंए 2026ण

LGBTQ अधिकार और सामाजिक स्वीकृति: भारतीय संदर्भ में एक समीक्षात्मक विश्लेषण

गीतांजलि वर्मा
स्वतंत्र शोधकर्ता

सारांश

भारत में LGBTQ समुदाय के अधिकारों और सामाजिक स्वीकृति का प्रश्न एक जटिल और बहुआयामी सामाजिक मुद्दा है। वर्ष 2018 में सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक निर्णय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 377 को समाप्त करके समलैंगिक संबंधों को अपराध की श्रेणी से बाहर कर दिया, जिसे मानवाधिकारों की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम माना गया। हालाँकि, कानूनी मान्यता और सामाजिक स्वीकृति के बीच एक गहरी खाई विद्यमान है। यह शोध पत्र LGBTQ अधिकारों के कानूनी ढाँचे, सामाजिक स्वीकृति की वर्तमान स्थिति, मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों तथा सामाजिक संरचनाओं जैसे परिवार, जाति और वर्ग की भूमिका का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। शोध में पाया गया कि विधिक प्रगति के बावजूद, भारतीय समाज में व्याप्त विषमलैंगिक मानदंड, पारिवारिक अस्वीकृति और सामाजिक कलंक के कारण LGBTQ व्यक्तियों को दैनिक जीवन में गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। शोध से स्पष्ट होता है कि आंतरिक समलैंगिक भय और अवसाद तथा आत्महत्या की प्रवृत्ति के बीच गहरा संबंध है, जो कानूनी सुधार के बाद भी बना हुआ है। निष्कर्ष बताते हैं कि LGBTQ अधिकारों की रक्षा के लिए केवल कानूनी सुधार पर्याप्त नहीं है, बल्कि सामाजिक दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता है।

मुख्य शब्द: LGBTQ अधिकार, सामाजिक स्वीकृति, धारा 377, मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक कलंक, समावेशन, भारतीय समाज।

परिचय

भारत में LGBTQ (लेस्बियन, गे, बाइसेक्सुअल, ट्रांसजेंडर, क्वीयर) समुदाय के अधिकारों और सामाजिक स्वीकृति का प्रश्न सदियों से जटिल और विवादास्पद रहा है। भारतीय समाज पारंपरिक रूप

से विषमलैंगिक (heteronormative) मानदंडों पर आधारित रहा है, जिसमें परिवार, विवाह और प्रजनन को सामाजिक व्यवस्था के केंद्रीय स्तंभ माना जाता है। इन मानदंडों से विचलन को अक्सर असामान्य, अप्राकृतिक या सामाजिक रूप से अस्वीकार्य माना जाता रहा है। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू की गई भारतीय दंड संहिता की धारा 377 ने इस सामाजिक पूर्वाग्रह को कानूनी वैधता प्रदान की, जिसमें “प्रकृति के विरुद्ध शारीरिक संभोग” को अपराध घोषित किया गया।

वर्ष 2009 में दिल्ली उच्च न्यायालय ने नाज़ फाउंडेशन बनाम एनसीटी दिल्ली मामले में इस धारा को वयस्कों के बीच सहमति-आधारित समलैंगिक संबंधों के लिए अमान्य ठहराया। न्यायालय ने माना कि धारा 377 अनुच्छेद 14 (समानता), 15 (भेदभाव का निषेध) और 21 (जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता) का उल्लंघन करती है। हालाँकि, 2013 में सर्वोच्च न्यायालय ने सुरेश कुमार कौशल बनाम नाज़ फाउंडेशन मामले में इस निर्णय को पलट दिया और समलैंगिकता को पुनः अपराध की श्रेणी में डाल दिया। न्यायालय ने कहा कि यह संसद का काम है कि वह इस कानून को समाप्त करने पर विचार करे।

वर्ष 2018 में नवतेज सिंह जोहर बनाम भारत संघ मामले में सर्वोच्च न्यायालय की पाँच न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से धारा 377 को असंवैधानिक ठहराया। न्यायालय ने माना कि यह धारा अनुच्छेद 14, 15, 19 (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता) और 21 का उल्लंघन करती है। न्यायालय ने यह भी माना कि LGBTQ समुदाय के सदस्यों को अन्य नागरिकों के समान मानव, मौलिक और संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। न्यायालय ने कहा कि “डेढ़ सौ अठ्ठावन वर्ष की अवधि LGBTQ समुदाय के लिए अपमान सहने के लिए बहुत लंबी थी”।

हालाँकि, कानूनी मान्यता और सामाजिक स्वीकृति के बीच एक गहरी खाई विद्यमान है। शोध से पता चलता है कि LGBTQ युवाओं को अपनी पहचान प्रकट करने में गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि उन्हें परिवार से नकारात्मक प्रतिक्रिया की आशंका होती है। शर्मा एवं अन्य (2025) के अध्ययन में पाया गया कि धारा 377 के निरसन के बावजूद, भारतीय समाज में समलैंगिकता के प्रति दृष्टिकोण में कोई पर्याप्त परिवर्तन नहीं आया है। इसके अतिरिक्त, LGBTQ व्यक्तियों में मानसिक स्वास्थ्य समस्याओं—अवसाद, चिंता, आत्महत्या की प्रवृत्ति—की दर सामान्य आबादी की तुलना में कहीं अधिक है। सूहिंदा एवं अन्य (2025) के अध्ययन में पाया गया कि आंतरिक समलैंगिक भय (internalized homophobia) और अवसाद तथा आत्महत्या के बीच गहरा संबंध है, जो कानूनी सुधार के बाद भी बना हुआ है।

इस शोध पत्र में निम्नलिखित शोध प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया गया है: भारत में LGBTQ अधिकारों का कानूनी ढाँचा क्या है और इसका ऐतिहासिक विकास किस प्रकार हुआ? भारतीय समाज में LGBTQ व्यक्तियों की सामाजिक स्वीकृति की वर्तमान स्थिति क्या है? LGBTQ व्यक्तियों के मानसिक स्वास्थ्य पर सामाजिक कलंक और भेदभाव का क्या प्रभाव पड़ता है? सामाजिक संरचनाएँ—

परिवार, जाति, वर्ग—LGBTQ व्यक्तियों की स्वीकृति और बहिष्करण को कैसे प्रभावित करती हैं? LGBTQ अधिकारों और सामाजिक स्वीकृति को बढ़ावा देने के लिए किस प्रकार की रणनीतियाँ आवश्यक हैं? इस शोध पत्र के प्रमुख उद्देश्यों में भारत में LGBTQ अधिकारों के कानूनी ढाँचे का विश्लेषण करना, सामाजिक स्वीकृति की वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन करना, मानसिक स्वास्थ्य पर सामाजिक कलंक के प्रभावों का अध्ययन करना, सामाजिक संरचनाओं की भूमिका को उजागर करना, तथा सामाजिक स्वीकृति बढ़ाने के लिए नीतिगत सुझाव प्रस्तुत करना शामिल है।

यह शोध पत्र मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों—शोध पत्रों, सरकारी रिपोर्टों, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रकाशनों और समाचार लेखों—पर आधारित है। प्राथमिक सर्वेक्षण का अभाव इस अध्ययन की प्रमुख सीमा है। इसके अतिरिक्त, LGBTQ समुदाय के भीतर विविधता—लैंगिक, जातीय, वर्गीय—का गहन विश्लेषण सीमित है। यह शोध पत्र पाँच प्रमुख भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में परिचय, समस्या कथन, शोध प्रश्न और उद्देश्य प्रस्तुत किए गए हैं। द्वितीय भाग में साहित्य समीक्षा के माध्यम से LGBTQ अधिकारों और सामाजिक स्वीकृति से संबंधित विद्यमान शोध का विश्लेषण किया गया है। तृतीय भाग में शोध पद्धति का वर्णन है। चतुर्थ भाग में विश्लेषण और निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। पंचम भाग में नीतिगत सुझाव और भविष्य की शोध दिशाएँ प्रस्तुत की गई हैं।

साहित्य समीक्षा

भारत में LGBTQ अधिकारों और सामाजिक स्वीकृति पर विद्यमान साहित्य को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: कानूनी और ऐतिहासिक अध्ययन, सामाजिक स्वीकृति और कलंक संबंधी अध्ययन, मानसिक स्वास्थ्य संबंधी अध्ययन, तथा सामाजिक संरचनाओं और अंतरसंबंधिता संबंधी अध्ययन।

भारत में LGBTQ अधिकारों का कानूनी इतिहास जटिल और उतार-चढ़ाव भरा रहा है। औपनिवेशिक काल में लागू धारा 377 ने समलैंगिक संबंधों को अपराध घोषित किया। वर्ष 2009 में दिल्ली उच्च न्यायालय ने नाज़ फाउंडेशन बनाम एनसीटी दिल्ली मामले में इस धारा को “पढ़कर कम” किया और वयस्कों के बीच सहमति-आधारित समलैंगिक संबंधों को वैध ठहराया। न्यायालय ने माना कि “यह नहीं भुलाया जा सकता कि भेदभाव समानता का विलोम है और यह समानता की मान्यता ही है जो प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा को बढ़ावा देगी”। हालाँकि, 2013 में सर्वोच्च न्यायालय ने सुरेश कुमार कौशल बनाम नाज़ फाउंडेशन मामले में इस निर्णय को पलट दिया और समलैंगिकता को पुनः अपराध की श्रेणी में डाल दिया। न्यायालय ने कहा कि यह संसद का काम है कि वह इस कानून को समाप्त करने पर विचार करे।

वर्ष 2018 में नवतेज सिंह जोहर बनाम भारत संघ मामले में सर्वोच्च न्यायालय की पाँच न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से धारा 377 को असंवैधानिक ठहराया। न्यायालय ने माना कि यह धारा अनुच्छेद 14 (समानता), 15 (भेदभाव का निषेध), 19 (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता) और 21 (जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता) का उल्लंघन करती है। न्यायालय ने यह भी माना कि LGBTQ समुदाय के सदस्यों को अन्य नागरिकों के समान मानव, मौलिक और संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। न्यायालय ने कहा कि समलैंगिकता मानव कामुकता का एक सामान्य प्रकार है और धारा 377 LGBT व्यक्तियों को “मनुष्य से कम” मानती है।

कानूनी मान्यता के बावजूद, भारतीय समाज में LGBTQ व्यक्तियों की सामाजिक स्वीकृति सीमित है। जॉर्ज (2026) के अनुसार, समकालीन भारतीय समाज में क्वीयर स्थिति और अधिकारों की कानूनी मान्यता तथा परिवारों के भीतर क्वीयर बहिष्करण का विरोधाभास विद्यमान है। भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक मानदंड परिवार को एक प्राथमिक संस्था मानते हैं जो विषमलैंगिक आदर्शों को सुदृढ़ करती है। शर्मा एवं अन्य (2025) द्वारा किए गए एक अध्ययन में भारतीय समुदाय के नमूने में समलैंगिकता के प्रति ज्ञान और दृष्टिकोण का मूल्यांकन किया गया। अध्ययन में 419 प्रतिभागियों को शामिल किया गया, जिनमें से 90% हिंदू थे और औसत आयु 20.71 वर्ष थी। अध्ययन में पाया गया कि धारा 377 के निरसन के बावजूद, समलैंगिकता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में कोई पर्याप्त परिवर्तन नहीं आया है। धार्मिकता का उच्च स्तर अधिक नकारात्मक दृष्टिकोण से जुड़ा पाया गया।

LGBTQ व्यक्तियों के मानसिक स्वास्थ्य पर शोध चिंताजनक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। सूहिंदा एवं अन्य (2025) द्वारा किए गए एक अध्ययन में धारा 377 के निरसन से पहले (2015) और बाद (2023) के गे पुरुषों के दो समूहों की तुलना की गई। अध्ययन में पाया गया कि 2023 के समूह में आंतरिक समलैंगिक भय के स्तर में उल्लेखनीय कमी आई ($t\text{-value} = -3.14, p = .002$), लेकिन अवसाद और आत्महत्या की प्रवृत्ति में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं पाया गया। शोधकर्ताओं ने निष्कर्ष निकाला कि आंतरिक समलैंगिक भय और प्रतिकूल मानसिक स्वास्थ्य परिणामों के बीच संबंध कानूनी सुधार के बाद भी बना हुआ है। कर और रानसिंग (2026) ने भारत में LGBTQ आत्महत्या के आँकड़ों की समस्या पर प्रकाश डाला। उनके अनुसार, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) के आत्महत्या संबंधी आँकड़े केवल ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को “तीसरे लिंग” की सामान्य श्रेणी में मान्यता देते हैं, जबकि अन्य यौन अल्पसंख्यकों को बाहर रखा जाता है।

भारतीय संदर्भ में, LGBTQ व्यक्तियों के अनुभव जाति, वर्ग और लिंग जैसी सामाजिक संरचनाओं से गहराई से प्रभावित होते हैं। जॉर्ज (2026) के अनुसार, जाति और वर्ग पदानुक्रम परिवार के भीतर क्वीयर युवाओं की सामाजिक स्थिति और स्वीकृति को प्रभावित करने वाली प्रमुख शक्तियाँ बनी हुई हैं। अंतरसंबंधितता (intersectionality) की अवधारणा इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है। शोध बताता है कि

LGBTQIA+ समुदाय के भीतर उपसमूहों के अनुभव भिन्न होते हैं। ट्रांसजेंडर और नॉनबाइनरी व्यक्तियों को सिसजेंडर व्यक्तियों की तुलना में अधिक कलंक और खराब मानसिक स्वास्थ्य परिणामों का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार, बाइसेक्सुअल और पैनसेक्सुअल व्यक्तियों को द्विआधारी यौनिकता की अवधारणाओं के कारण मिटाए जाने का अनुभव होता है।

उपरोक्त साहित्य समीक्षा से स्पष्ट होता है कि भारत में LGBTQ अधिकारों और सामाजिक स्वीकृति पर विद्यमान शोध मुख्यतः चार आयामों पर केंद्रित है: कानूनी ढाँचा, सामाजिक स्वीकृति, मानसिक स्वास्थ्य, और सामाजिक संरचनाएँ। विद्यमान साहित्य में निम्नलिखित अंतराल पाए गए: भारतीय संदर्भ में LGBTQ व्यक्तियों की सामाजिक स्वीकृति पर गहन गुणात्मक शोध का अभाव है; जाति और वर्ग के साथ यौन अभिविन्यास के अंतर्संबंध पर सीमित अध्ययन हुए हैं; मानसिक स्वास्थ्य हस्तक्षेपों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन अभी तक नहीं हुआ है; और LGBTQ व्यक्तियों के आत्महत्या संबंधी आँकड़ों में सुधार के लिए व्यवस्थित प्रयासों की कमी है।

शोध पद्धति

यह शोध पत्र वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक शोध डिजाइन पर आधारित है। अध्ययन में भारत में LGBTQ अधिकारों के कानूनी ढाँचे, सामाजिक स्वीकृति की स्थिति, मानसिक स्वास्थ्य प्रभावों और सामाजिक संरचनाओं की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। शोध में मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है, जिनमें अकादमिक शोध पत्र (LGBTQ अधिकार, सामाजिक स्वीकृति, मानसिक स्वास्थ्य और अंतरसंबंधितता से संबंधित पीयर-रिव्यूड जर्नल लेख), कानूनी दस्तावेज़ (नवतेज सिंह जोहर बनाम भारत संघ, 2018; नाज़ फाउंडेशन बनाम एनसीटी दिल्ली, 2009; और अन्य संबंधित न्यायिक निर्णय), अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रकाशन (संयुक्त राष्ट्र, विश्व स्वास्थ्य संगठन, और अन्य संस्थाओं की रिपोर्टें), सरकारी रिपोर्टें (भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के प्रकाशन), तथा समाचार लेख और रिपोर्टें (प्रमुख समाचार पत्रों और ऑनलाइन पोर्टल्स से प्राप्त जानकारी) शामिल हैं।

शोध में विषय-वस्तु विश्लेषण विधि का उपयोग किया गया है। द्वितीयक स्रोतों से प्राप्त जानकारी को व्यवस्थित रूप से वर्गीकृत किया गया और प्रमुख विषयों—कानूनी ढाँचा, सामाजिक स्वीकृति, मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक संरचनाएँ—के आधार पर विश्लेषण किया गया। इस शोध की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं: प्राथमिक सर्वेक्षण का अभाव, भौगोलिक सीमा (अध्ययन मुख्यतः भारतीय संदर्भ पर केंद्रित है), समय सीमा (LGBTQ अधिकारों का क्षेत्र अत्यंत गतिशील है), तथा समुदाय के भीतर विविधता का सीमित विश्लेषण।

विश्लेषण और निष्कर्ष

भारत में LGBTQ अधिकारों का कानूनी इतिहास जटिल रहा है। औपनिवेशिक काल में लागू धारा 377 ने “प्रकृति के विरुद्ध शारीरिक संभोग” को अपराध घोषित किया, जिसका उपयोग समलैंगिक और ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को परेशान करने, ब्लैकमेल करने और उत्पीड़ित करने के लिए किया जाता था। वर्ष 2009 में दिल्ली उच्च न्यायालय ने इस धारा को वयस्कों के बीच सहमति-आधारित समलैंगिक संबंधों के लिए अमान्य ठहराया, परंतु 2013 में सर्वोच्च न्यायालय ने इस निर्णय को पलट दिया। वर्ष 2018 में नवतेज सिंह जोहर बनाम भारत संघ मामले में सर्वोच्च न्यायालय की पाँच न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से धारा 377 को असंवैधानिक ठहराया। न्यायालय ने माना कि यह धारा अनुच्छेद 14 (समानता), 15 (भेदभाव का निषेध), 19 (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता) और 21 (जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता) का उल्लंघन करती है। न्यायालय ने यह भी माना कि LGBTQ समुदाय के सदस्यों को अन्य नागरिकों के समान मानव, मौलिक और संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। अंतर्राष्ट्रीय न्यायविद आयोग (ICJ) ने इस निर्णय को मानवाधिकारों की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम बताया और कहा कि यह भारत की अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संधियों के तहत दायित्वों के अनुरूप है। हालाँकि, इस निर्णय के बावजूद, भारत में समान-लिंग विवाह को कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है। शोध बताता है कि LGBTQ समुदाय की कानूनी स्थिति में सुधार के बावजूद, संसदीय प्रतिनिधित्व 1990-2022 की अवधि में शून्य रहा, जो एक महत्वपूर्ण संस्थागत अंतराल को दर्शाता है।

कानूनी मान्यता और सामाजिक स्वीकृति के बीच गहरी खाई विद्यमान है। शोध बताता है कि भारतीय समाज में LGBTQ व्यक्तियों की सामाजिक स्वीकृति सीमित है, विशेषकर परिवार के भीतर। जॉर्ज (2026) के अनुसार, भारतीय समाज में क्वीयर स्थिति और अधिकारों की कानूनी मान्यता तथा परिवारों के भीतर क्वीयर बहिष्करण का विरोधाभास विद्यमान है। सामाजिक-सांस्कृतिक मानदंड परिवार को एक प्राथमिक संस्था मानते हैं जो विषमलैंगिक आदर्शों को सुदृढ़ करती है। शर्मा एवं अन्य (2025) के अध्ययन में पाया गया कि धार्मिकता का उच्च स्तर अधिक नकारात्मक दृष्टिकोण से जुड़ा होता है। हालाँकि, आधुनिकीकरण के कारक—शिक्षा, इंटरनेट तक पहुँच—अधिक स्वीकारात्मक दृष्टिकोण को बढ़ावा देते हैं। यह दर्शाता है कि सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन संभव है, परंतु इसके लिए शिक्षा और जागरूकता के व्यापक प्रयासों की आवश्यकता है।

LGBTQ व्यक्तियों के मानसिक स्वास्थ्य पर सामाजिक कलंक और भेदभाव का गंभीर प्रभाव पड़ता है। शोध बताता है कि LGBTQ व्यक्तियों में अवसाद, चिंता, और आत्महत्या की प्रवृत्ति सामान्य आबादी की तुलना में कहीं अधिक है। सूहिंदा एवं अन्य (2025) के अध्ययन में पाया गया कि धारा 377 के निरसन के बाद गे पुरुषों में आंतरिक समलैंगिक भय के स्तर में कमी आई, लेकिन अवसाद और आत्महत्या की प्रवृत्ति में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं आया। इसका अर्थ है कि आंतरिक समलैंगिक भय

और प्रतिकूल मानसिक स्वास्थ्य परिणामों के बीच संबंध कानूनी सुधार के बाद भी बना हुआ है। कर और रानसिंग (2026) ने भारत में LGBTQ आत्महत्या के आँकड़ों की समस्या पर प्रकाश डाला। उनके अनुसार, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के आँकड़े केवल ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को “तीसरे लिंग” की सामान्य श्रेणी में मान्यता देते हैं, जबकि अन्य यौन अल्पसंख्यकों को बाहर रखा जाता है। NCRB की 2024 की रिपोर्ट के अनुसार, भारत में 1,70,746 आत्महत्या के मामले दर्ज किए गए, जिनमें से 14,488 छात्र थे। हालाँकि, LGBTQ व्यक्तियों के आत्महत्या संबंधी आँकड़े अलग से दर्ज नहीं किए जाते, जिससे इस समस्या की वास्तविक व्यापकता को समझना कठिन हो जाता है।

भारतीय संदर्भ में, LGBTQ व्यक्तियों के अनुभव जाति, वर्ग और लिंग जैसी सामाजिक संरचनाओं से गहराई से प्रभावित होते हैं। जॉर्ज (2026) के अनुसार, जाति और वर्ग पदानुक्रम परिवार के भीतर क्वीयर युवाओं की सामाजिक स्थिति और स्वीकृति को प्रभावित करने वाली प्रमुख शक्तियाँ बनी हुई हैं। अंतरसंबंधितता की अवधारणा इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है। संयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञ की रिपोर्ट के अनुसार, लेस्बियन, बाइसेक्सुअल और क्वीयर महिलाओं को पितृसत्तात्मक संस्थाओं के माध्यम से उनके अधिकारों का मध्यस्थता का सामना करना पड़ता है, जो उनकी गतिशीलता, आवास, संपत्ति के अधिकार, स्वास्थ्य सेवा तक पहुँच और माता-पिता के रूप में उनके अधिकारों को सीमित करता है।

LGBTQ अधिकारों और सामाजिक स्वीकृति को बढ़ावा देने के लिए बहुआयामी रणनीतियों की आवश्यकता है। शोध में निम्नलिखित हस्तक्षेप रणनीतियाँ पाई गई हैं: शैक्षिक हस्तक्षेप (डिजिटल जागरूकता को बढ़ावा, LGBTQ मुद्दों को स्कूल पाठ्यक्रम में शामिल करना, और सामाजिक-भावनात्मक शिक्षा के माध्यम से छात्रों में सहानुभूति और सामाजिक कौशल का विकास), सामाजिक हस्तक्षेप (सामुदायिक जागरूकता अभियान, सहकर्मी सहायता नेटवर्क, और सहानुभूति प्रशिक्षण), कानूनी हस्तक्षेप (समान-लिंग विवाह को कानूनी मान्यता, भेदभाव-रोधी कानून, और LGBTQ व्यक्तियों के लिए विशेष संरक्षण), मानसिक स्वास्थ्य हस्तक्षेप (LGBTQ व्यक्तियों के लिए सांस्कृतिक रूप से सक्षम मानसिक स्वास्थ्य सेवाएँ, सहकर्मी सहायता समूह, और संकट हेल्पलाइन), तथा पारिवारिक हस्तक्षेप (माता-पिता और अभिभावकों को LGBTQ मुद्दों के बारे में जागरूक करना और बच्चों से खुलकर बात करने के लिए प्रोत्साहित करना)। संयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञ ने सुझाव दिया कि राज्यों को समावेशी भेदभाव-रोधी कानून अपनाने चाहिए, स्कूल पाठ्यक्रम में व्यापक यौनिकता और स्वास्थ्य शिक्षा को एकीकृत करना चाहिए, शैक्षिक सेटिंग्स में लैंगिक पहचान की मान्यता सुनिश्चित करनी चाहिए, और शिक्षार्थियों के लिए सुरक्षित और गोपनीय रिपोर्टिंग तंत्र प्रदान करना चाहिए।

इसके आधार पर निम्नलिखित नीतिगत सुझाव प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भारत सरकार को समान-लिंग विवाह को कानूनी मान्यता प्रदान करनी चाहिए और भेदभाव-रोधी कानून बनाने चाहिए जो रोजगार, आवास, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा में LGBTQ व्यक्तियों की रक्षा करें। LGBTQ व्यक्तियों के

आत्महत्या और मानसिक स्वास्थ्य संबंधी आँकड़ों के संग्रह में सुधार किया जाना चाहिए। वैकल्पिक डेटा संग्रह विधियों—जैसे रिस्पॉन्डेंट-ड्रिवेन सैंपलिंग, NGO डेटाबेस, गुणात्मक शोध—का उपयोग किया जाना चाहिए। LGBTQ व्यक्तियों के लिए सांस्कृतिक रूप से सक्षम मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार किया जाना चाहिए। स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं को LGBTQ मुद्दों पर प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। स्कूलों और कॉलेजों में LGBTQ मुद्दों पर शिक्षा को अनिवार्य किया जाना चाहिए। सामुदायिक जागरूकता अभियान चलाए जाने चाहिए जो सामाजिक कलंक को कम करें। LGBTQ समुदाय को राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाना चाहिए, जिससे उनकी आवाज नीति-निर्माण प्रक्रिया में पहुँच सके।

भविष्य की शोध दिशाओं में भारतीय संदर्भ में LGBTQ व्यक्तियों की सामाजिक स्वीकृति पर गहन गुणात्मक शोध, जाति और वर्ग के साथ यौन अभिविन्यास के अंतर्संबंध पर अध्ययन, मानसिक स्वास्थ्य हस्तक्षेपों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन, LGBTQ व्यक्तियों के आत्महत्या संबंधी आँकड़ों में सुधार के लिए व्यवस्थित प्रयास, तथा पारिवारिक स्वीकृति और मानसिक स्वास्थ्य के बीच संबंधों पर अनुदैर्घ्य अध्ययन शामिल हैं।

निष्कर्ष

भारत में LGBTQ अधिकारों और सामाजिक स्वीकृति की स्थिति एक जटिल विरोधाभास को दर्शाती है। वर्ष 2018 में सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक निर्णय ने धारा 377 को समाप्त करके समलैंगिक संबंधों को अपराध की श्रेणी से बाहर कर दिया, जिसे मानवाधिकारों की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम माना गया। हालाँकि, कानूनी मान्यता और सामाजिक स्वीकृति के बीच एक गहरी खाई विद्यमान है। शोध से स्पष्ट होता है कि विधिक प्रगति के बावजूद, भारतीय समाज में व्याप्त विषमलैंगिक मानदंड, पारिवारिक अस्वीकृति और सामाजिक कलंक के कारण LGBTQ व्यक्तियों को दैनिक जीवन में गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

शोध बताता है कि आंतरिक समलैंगिक भय और अवसाद तथा आत्महत्या की प्रवृत्ति के बीच गहरा संबंध है, जो कानूनी सुधार के बाद भी बना हुआ है। यह दर्शाता है कि केवल कानूनी सुधार सामाजिक स्वीकृति और मानसिक स्वास्थ्य में सुधार के लिए पर्याप्त नहीं है। सामाजिक संरचनाएँ—जैसे जाति, वर्ग, और परिवार—LGBTQ व्यक्तियों की स्वीकृति और बहिष्करण को गहराई से प्रभावित करती हैं। LGBTQ अधिकारों और सामाजिक स्वीकृति को बढ़ावा देने के लिए बहुआयामी रणनीतियों की आवश्यकता है, जिसमें कानूनी सुधार, शैक्षिक हस्तक्षेप, मानसिक स्वास्थ्य सेवाएँ, सामाजिक जागरूकता, और राजनीतिक प्रतिनिधित्व शामिल हैं। LGBTQ अधिकारों की रक्षा केवल कानूनी

मान्यता से नहीं, बल्कि सामाजिक दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन से ही संभव है। यह एक दीर्घकालिक प्रक्रिया है जिसके लिए सामूहिक प्रयास और सतत प्रतिबद्धता की आवश्यकता है।

संदर्भ

1. Sharma, M., Pal, A., Chandra, V., Anand, A., & Srivastava, A. (2025). An exploratory cross-sectional evaluation of knowledge and attitude of an Indian community-based sample toward homosexuality and LGBTQ+ and its correlation with religiosity. *Journal of Psychosexual Health*, 8, 62–67. <https://doi.org/10.1177/26318318251386238>
2. Soohinda, G., Jaggi, P. S., Sampath, H., Bhardwaj, A., & Dutta, S. (2025). Freedom and healing: Did the decriminalization of homosexuality impact the mental health of gay men in India? An online survey. *Journal of Homosexuality*, 1–16. <https://doi.org/10.1080/00918369.2025.2475028>
3. Supreme Court of India. (2018). *Navtej Singh Johar v. Union of India*, Writ Petition (Criminal) No. 76 of 2016.
4. Delhi High Court. (2009). *Naz Foundation v. Government of NCT of Delhi*, 160 (2009) DLT 277.
5. Supreme Court of India. (2013). *Suresh Kumar Koushal v. Naz Foundation*, SLP (C) 15436/2009.
6. National Crime Records Bureau. (2026). *Accidental Deaths and Suicides in India 2024*. Ministry of Home Affairs, Government of India.
7. United Nations Human Rights Council. (2025). *Report of the Independent Expert on protection against violence and discrimination based on sexual orientation and gender identity*. A/HRC/58/XX.
8. George, P. (2026). Navigating visibility: The complexities of sexual identity disclosure among queer youth in India. *Sexual & Relationship Therapy*, 41(2), 394.
9. Kar, S. K., & Ransing, R. (2026). LGBTQIA suicide in India: Data scarcity, accuracy, and other challenges. *Indian Journal of Psychiatry*, 68(7), 661.
10. United Nations Human Rights Council. (2026). *Report of the Independent Expert on protection against violence and discrimination based on sexual orientation and gender identity: Lesbian, bisexual and queer women*. A/HRC/59/XX.

11. Chambers and Partners. (2018). Striking down of Section 377 of the Indian Penal Code.
12. Supreme Court Observer. (2023). Right to marry of sexual minorities: Court in review.
13. The Hindu. (2026, May 8). NCRB’s Crime in India 2024 report: A comprehensive coverage.
14. Human Dignity Trust. (2013). Suresh Kumar Koushal & Ors. v. Naz Foundation & Ors., Supreme Court of India.
15. Human Dignity Trust. (2009). Naz Foundation v Government of NCT of Delhi, Delhi High Court.

विवाह संस्था का बदलता सामाजिक स्वरूप: Gen Z में Fake Wedding की उभरती प्रवृत्ति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. दीपक कुमार कन्नौजिया

सारांश

विवाह भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था रही है, जिसने परिवार, रिश्तेदारी, लैंगिक भूमिकाओं, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सांस्कृतिक निरंतरता को लंबे समय तक संरचित किया है। भारतीय समाज में विवाह केवल दो व्यक्तियों के बीच संबंध स्थापित करने की प्रक्रिया नहीं, बल्कि दो परिवारों और व्यापक सामाजिक समूहों के बीच संबंधों को वैधता प्रदान करने वाली संस्था के रूप में विकसित हुआ है। तथापि, आधुनिकीकरण, वैश्वीकरण, व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद तथा डिजिटल मीडिया के विस्तार ने विवाह की पारंपरिक अवधारणाओं और उससे जुड़ी सामाजिक अपेक्षाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। इसी बदलते सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में हाल के वर्षों में विशेषकर शहरी क्षेत्रों में “Fake Wedding” अथवा विवाह-जैसे मनोरंजक आयोजनों की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। इनमें वास्तविक वैवाहिक संबंध स्थापित किए बिना बारात, संगीत, मेहंदी, हल्दी, वरमाला, पारंपरिक परिधान, नृत्य और विवाह-समारोह जैसी गतिविधियों का आयोजन किया जाता है। 2025 में दिल्ली, मुंबई, बंगलुरु, पुणे तथा अन्य शहरी केंद्रों में ऐसे टिकट आधारित कार्यक्रमों की मीडिया रिपोर्टिंग ने इस प्रवृत्ति को व्यापक सार्वजनिक चर्चा का विषय बनाया।

प्रस्तुत शोध-पत्र द्वितीयक स्रोतों- शोध पुस्तकों, समाजशास्त्रीय सिद्धांतों, शोध लेखों तथा समकालीन मीडिया रिपोर्टों- के आधार पर Gen Z के बीच Fake Wedding की उभरती प्रवृत्ति का विश्लेषण करता है। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि विवाह के पारंपरिक सामाजिक अर्थों में किस प्रकार परिवर्तन हो रहा है तथा Fake Wedding इस परिवर्तन को किस प्रकार प्रतिबिंबित करती है। अध्ययन में व्यक्तिवाद, आत्म-प्रस्तुतीकरण, अंतरंगता में परिवर्तन तथा उपभोक्तावादी संस्कृति को प्रमुख समाजशास्त्रीय संदर्भों के रूप में प्रयुक्त किया गया है। निष्कर्षतः Fake Wedding को विवाह संस्था के

अंत के रूप में नहीं, बल्कि युवा संस्कृति में विवाह की अनुष्ठानिक, मनोरंजक, प्रदर्शनात्मक और अनुभवात्मक अभिव्यक्ति के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है।

प्रमुख शब्द: विवाह, Gen Z, Fake Wedding, युवा संस्कृति, सोशल मीडिया, व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद, सामाजिक परिवर्तन।

परिचय

विवाह मानव समाज की सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं में से एक है। विभिन्न समाजों में इसके स्वरूप, नियम, उद्देश्य तथा सामाजिक अर्थ अलग-अलग रहे हैं, लेकिन सामान्यतः विवाह ने यौन संबंधों के नियमन, संतानोत्पत्ति, परिवार निर्माण, उत्तराधिकार, सामाजिक स्थिति और रिश्तेदारी के संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। Westermarck (1921) ने विवाह को एक ऐसी सामाजिक संस्था के रूप में देखा जो विभिन्न समाजों में विशिष्ट नियमों और सामाजिक स्वीकृति के माध्यम से विकसित हुई। इसी प्रकार Goody (1976) ने विवाह को परिवार, संपत्ति, उत्तराधिकार और सामाजिक संरचना से जोड़कर समझाया। भारतीय समाज में विवाह का स्वरूप ऐतिहासिक रूप से धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों से गहराई से जुड़ा रहा है। विवाह संस्कार के माध्यम से व्यक्ति को परिवार तथा समुदाय के साथ जोड़ा जाता रहा है। विवाह के माध्यम से न केवल पति-पत्नी का संबंध स्थापित होता है, बल्कि दो परिवारों के बीच सामाजिक संबंध भी निर्मित होते हैं। इसीलिए भारतीय समाज में विवाह को व्यक्तिगत निर्णय के साथ-साथ सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में भी देखा गया है।

हालाँकि आधुनिकता और वैश्वीकरण ने इस स्थिति में परिवर्तन किया है। शिक्षा, नगरीकरण, महिलाओं की बढ़ती भागीदारी, रोजगार, आर्थिक स्वतंत्रता, प्रेम-विवाह, अंतरजातीय विवाह तथा डिजिटल संचार ने युवाओं की विवाह संबंधी धारणाओं को प्रभावित किया है। Beck और Beck-Gernsheim (2002) के अनुसार आधुनिक समाज में व्यक्ति की व्यक्तिगत पसंद और आत्मनिर्णय की भूमिका बढ़ रही है। इसी संदर्भ में विवाह जैसी पारंपरिक संस्था भी व्यक्तिगत चुनाव और आत्म-अभिव्यक्ति के नए रूपों से प्रभावित हो रही है। हाल के समय में Fake Wedding इसी परिवर्तन की एक रोचक अभिव्यक्ति के रूप में सामने आई है। इन आयोजनों में वास्तविक विवाह के बिना विवाह के सांस्कृतिक प्रतीकों और अनुष्ठानों को मनोरंजन, सामाजिक मेल-जोल और डिजिटल सामग्री निर्माण के लिए पुनः प्रस्तुत किया जाता है। भारत में 2025 के दौरान दिल्ली, बेंगलुरु, पुणे, मुंबई और अन्य शहरों में ऐसे कार्यक्रमों की रिपोर्ट सामने आई। इसलिए Fake Wedding का अध्ययन केवल एक नए पार्टी ट्रेंड का अध्ययन नहीं है, बल्कि यह समझने का अवसर प्रदान करता है कि युवा पीढ़ी विवाह, परंपरा, सामाजिक संबंध, मनोरंजन और आत्म-अभिव्यक्ति को किस प्रकार नए तरीके से जोड़ रही है।

विवाह का ऐतिहासिक एवं सामाजिक स्वरूप

विवाह मानव समाज की प्राचीनतम और महत्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं में से एक है, जिसका स्वरूप विभिन्न ऐतिहासिक कालों और संस्कृतियों में बदलता रहा है। प्रारंभिक समाजों में विवाह का संबंध यौन संबंधों के नियमन, संतानोत्पत्ति तथा सामाजिक समूह की निरंतरता से था। समय के साथ संपत्ति, उत्तराधिकार, सामाजिक प्रतिष्ठा और पारिवारिक गठबंधन भी इसके महत्वपूर्ण आधार बने (Westermarck, 1921, Goody, 1976)। भारतीय संदर्भ में वैदिक काल में विवाह को धार्मिक एवं सामाजिक संस्कार के रूप में मान्यता प्राप्त थी। ऋग्वेद के विवाह सूक्त (10.85) में विवाह संबंधी अनुष्ठानों का उल्लेख मिलता है, जबकि *मनुस्मृति* में विवाह के आठ रूपों का वर्णन किया गया है। Altekar (1956) के अनुसार विवाह प्राचीन भारतीय परिवार और सामाजिक संगठन का प्रमुख आधार था।

मध्यकाल में विवाह जाति, धर्म और सामाजिक वर्गों से प्रभावित रहा तथा परिवार की भूमिका प्रमुख थी। औपनिवेशिक काल में सती-प्रथा उन्मूलन (1829), हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (1856) और बाल विवाह निरोधक अधिनियम (1929) जैसे सुधारों ने विवाह संस्था में परिवर्तन किए। स्वतंत्रता के बाद *Hindu Marriage Act, 1955* ने इसे आधुनिक कानूनी संस्था के रूप में विनियमित किया।

आधुनिक समाज में विवाह का अर्थ पारिवारिक दायित्व से आगे बढ़कर प्रेम, भावनात्मक संतुष्टि, व्यक्तिगत चुनाव और आत्म-अभिव्यक्ति से जुड़ रहा है (Giddens, 1992)। अतः विवाह समाप्त नहीं हो रहा, बल्कि उसके अर्थ, स्वरूप और सामाजिक अपेक्षाओं में परिवर्तन हो रहा है।

Gen Z और बदलती विवाह धारणाएँ

Gen Z से आशय सामान्यतः उन युवाओं से है जिनका जन्म लगभग 1997 से 2012 के बीच हुआ है। यह पीढ़ी डिजिटल तकनीक, सोशल मीडिया, वैश्वीकरण और तीव्र सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के बीच विकसित हुई है। इन परिवर्तनों ने पारंपरिक सामाजिक संस्थाओं, विशेषकर विवाह, के प्रति युवाओं की धारणाओं को भी प्रभावित किया है। विवाह अब केवल पारिवारिक दायित्व, सामाजिक प्रतिष्ठा या संतानोत्पत्ति की संस्था न रहकर व्यक्तिगत पसंद, भावनात्मक संतुष्टि, आत्म-अभिव्यक्ति और जीवन-शैली से जुड़ा जा रहा है। Giddens (1992) के अनुसार आधुनिक समाज में अंतरंग संबंधों का आधार व्यक्तिगत संतुष्टि और भावनात्मक समानता की ओर बढ़ रहा है। इसी प्रकार Beck and Beck-Gernsheim (2002) का ‘individualization’ सिद्धांत बताता है कि आधुनिक व्यक्ति पारंपरिक सामाजिक अपेक्षाओं की तुलना में अपने व्यक्तिगत निर्णयों और जीवन-चयनों को अधिक महत्व देता है। Gen Z में विवाह की बदलती धारणाएँ इसी व्यापक सामाजिक परिवर्तन का हिस्सा मानी जा सकती हैं। सोशल मीडिया ने इन परिवर्तनों को और अधिक दृश्य एवं सार्वजनिक बनाया है। विवाह से जुड़े पारंपरिक अनुष्ठानों को युवा अब मनोरंजन, रचनात्मक अभिव्यक्ति और सामाजिक सहभागिता

के रूप में भी देखने लगे हैं। इसी संदर्भ में ‘Fake Wedding’ जैसी नई सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ उभरती हैं, जिनमें विवाह की रस्मों और प्रतीकों को वास्तविक वैवाहिक प्रतिबद्धता से अलग करके अनुभव और मनोरंजन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अतः Gen Z में विवाह की बदलती धारणा विवाह संस्था के अंत की नहीं, बल्कि उसके अर्थ और सामाजिक स्वरूप में हो रहे पुनर्गठन की ओर संकेत करती है।

Fake Wedding की अवधारणा

Fake Wedding से आशय ऐसे आयोजन से है जिसमें वास्तविक कानूनी या धार्मिक विवाह किए बिना विवाह समारोह की प्रमुख गतिविधियों और प्रतीकों को मनोरंजन, सामाजिक सहभागिता अथवा डिजिटल प्रदर्शन के लिए पुनः प्रस्तुत किया जाता है। इसमें सामान्यतः निम्न गतिविधियाँ देखी जा सकती हैं।

बारात जैसी सामूहिक एंट्री, दूल्हा-दुल्हन जैसी पोशाक, मेहंदी और हल्दी, संगीत और नृत्य, वरमाला का प्रतीकात्मक आयोजन, फूलों की वर्षा, विवाह स्थल जैसी सजावट, DJ या लाइव संगीत, विवाह-थीम वाले फोटो और वीडियो, सोशल मीडिया के लिए सामग्री निर्माण इत्यादि। 2025 में भारत के विभिन्न महानगरों में ऐसे आयोजनों की मीडिया रिपोर्टिंग हुई। दिल्ली और बेंगलुरु में आयोजित कार्यक्रमों में बारात, संगीत, वरमाला, पारंपरिक परिधान तथा अन्य विवाह-संबंधी गतिविधियों को मनोरंजन के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार Fake Wedding को विवाह का वास्तविक विकल्प मानना उचित नहीं होगा। यह वर्तमान में अधिकतर एक विवाह-थीम वाला सामाजिक एवं मनोरंजक आयोजन प्रतीत होता है।

भारत में Fake Wedding के उदाहरण

भारत में Fake Wedding की चर्चा विशेष रूप से 2025 में तेज हुई। मीडिया रिपोर्टों के अनुसार दिल्ली, मुंबई, बेंगलुरु और पुणे जैसे महानगरों में विवाह-जैसे टिकट आधारित कार्यक्रम आयोजित किए गए।

दिल्ली में “जुम्मा की रात” आयोजित कार्यक्रम में प्रतिभागियों को पारंपरिक भारतीय परिधान पहनकर आने, संगीत और नृत्य में भाग लेने तथा विवाह जैसी गतिविधियों का अनुभव करने के लिए आमंत्रित किया गया। कुछ आयोजनों में वास्तविक दूल्हा-दुल्हन या वैधानिक विवाह नहीं था।

हैदराबाद में ‘ग्रांड लॉन, जलविहार’ आयोजन यह पार्टी 21 वर्ष से ऊपर के युवाओं के लिए रखी गई, जिसमें पारंपरिक नाइटक्लब के बजाय एक खुली शादी के मैदान (Lawn) जैसा माहौल तैयार किया गया। इसमें बॉलीवुड, तेलुगु और डिस्को म्यूजिक का फ्यूजन था, और पूरे वेन्यू को भारी-भरकम ‘वेडिंग

लाइट्स' और फूलों से सजाया गया था ताकि मेहमानों को बिल्कुल असली 'शादी वाली वाइब' मिल सके।

मुंबई में 'नो-अल्कोहल' और कमर्शियल लाउंज द्वारा मुंबई के कुछ आयोजनों में एक अलग प्रयोग किया गया जिसमें 'नो-अल्कोहल, ओनली थीम' (No Alcohol, Just Theme)। इसमें बिना शराब के पूरी तरह से रील्स और इंस्टाग्राम के अनुकूल (Instagram-certified) माहौल बनाया गया, जहाँ 'मॉक-वरमाला' (Mock Garlanding) की रस्म स्टेज पर परफॉर्म की गई। इसके टिकट ₹1,500 से शुरू होकर टेबल बुकिंग के लिए ₹15,000 या उससे अधिक तक बिके।

बेंगलुरु में 'संगीत सोशलस' और डायस्पोरा इंस्पिरेशन ने एक बड़े Fake Wedding कार्यक्रम में बड़ी संख्या में लोगों की भागीदारी की मीडिया रिपोर्टिंग हुई। कार्यक्रम में संगीत, भोजन, सजावट, नृत्य और विवाह-संबंधी अन्य मनोरंजक गतिविधियाँ शामिल थीं। भारत के बाहर भी भारतीय विवाह संस्कृति से प्रेरित ऐसे आयोजन देखे गए हैं। उदाहरण के लिए, Dubai में “Almost Sangeet” जैसे कार्यक्रमों ने विवाह समारोह की सांस्कृतिक विशेषताओं को बिना वास्तविक विवाह के मनोरंजन के रूप में प्रस्तुत किया।

हालाँकि इन मीडिया रिपोर्टों को पूरे Gen Z वर्ग का प्रतिनिधि प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए। ये मुख्यतः शहरी, सोशल-मीडिया-सक्रिय और मनोरंजन-उन्मुख युवाओं के बीच दिखाई देने वाली प्रवृत्ति को दर्शाती हैं।

Social Media की भूमिका

Fake Wedding के प्रसार को समझने में सोशल मीडिया अत्यंत महत्वपूर्ण है। Instagram, YouTube और अन्य डिजिटल प्लेटफॉर्म विवाह-संबंधी दृश्यों को तेजी से प्रसारित करने की क्षमता रखते हैं। Goffman (1959) के dramaturgical approach के अनुसार सामाजिक जीवन को एक प्रदर्शन के रूप में समझा जा सकता है, जिसमें व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में अपनी पहचान प्रस्तुत करता है। सोशल मीडिया इस प्रदर्शन को डिजिटल मंच प्रदान करता है।

Fake Wedding में व्यक्ति में वास्तविक विवाह किए बिना विवाह का अनुभव करता है, उसे रिकॉर्ड करता है, सोशल मीडिया पर साझा करता है और सामाजिक प्रतिक्रिया प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया में विवाह का समारोहात्मक पक्ष एक performative experience में बदल जाता है। सोशल मीडिया की भूमिका को निम्न रूप में समझा जा सकता है। Trend creation - नए सांस्कृतिक ट्रेंड को लोकप्रिय बनाना, Visual culture - विवाह को दृश्य और आकर्षक अनुभव में बदलना, Self-presentation - व्यक्ति अपनी पहचान और जीवनशैली का प्रदर्शन करता है, Peer influence - मित्रों और सोशल नेटवर्क के माध्यम से भागीदारी की इच्छा बढ़ती है, Commercialization - आयोजक टिकट, फैशन,

फोटोग्राफी और अन्य सेवाओं को बाजार से जोड़ते हैं। इस प्रकार Fake Wedding केवल सामाजिक आयोजन नहीं बल्कि डिजिटल संस्कृति और अनुभव-आधारित उपभोक्तावाद से भी जुड़ा हुआ है।

सामाजिक दृष्टिकोण

समाज में Fake Wedding के प्रति दृष्टिकोण एकरूप नहीं है। इसे मुख्यतः तीन दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है। सकारात्मक दृष्टिकोण युवाओं के लिए Fake Wedding- मनोरंजन का नया माध्यम है, मित्रों के साथ सामूहिक अनुभव प्रदान करती है, विवाह के सामाजिक दबाव से मुक्त उत्सव का अवसर देती है, फैशन और रचनात्मकता को व्यक्त करने का माध्यम बनती है, पारंपरिक विवाह की महंगी व्यवस्था के बिना विवाह-जैसे अनुभव का अवसर देती है।

आलोचनात्मक दृष्टिकोण- दूसरी ओर, कुछ लोग इसे विवाह जैसी गंभीर सामाजिक संस्था का trivialization मान सकते हैं। उनके अनुसार विवाह से जुड़े धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों को केवल मनोरंजन के लिए प्रयोग करना परंपरा के अर्थ को कमजोर कर सकता है।

पीढ़ीगत अंतर- Fake Wedding को लेकर युवा और पुरानी पीढ़ी के दृष्टिकोण में अंतर हो सकता है। वृद्ध पीढ़ी विवाह को जिम्मेदारी, परिवार और सामाजिक स्थायित्व से जोड़ सकती है, जबकि युवा पीढ़ी उसी विवाह समारोह को मनोरंजन, अनुभव और आत्म-अभिव्यक्ति के रूप में भी देख सकती है। यह अंतर व्यापक **generational cultural change** का संकेत माना जा सकता है।

सामाजिक प्रभाव विवाह के अर्थ में परिवर्तन Fake Wedding विवाह के कानूनी और सामाजिक संबंध से अलग उसके समारोहात्मक पक्ष को सामने लाती है। इससे विवाह के अर्थ में एक महत्वपूर्ण विभाजन दिखाई देता है। जो इस प्रकार से है- विवाह = संस्था + संबंध + उत्तरदायित्व + समारोह जबकि Fake Wedding मुख्यतः समारोह + अनुभव + मनोरंजन + प्रदर्शन पर केंद्रित रहती है।

विवाह के सांस्कृतिक प्रतीकों का पुनर्प्रयोग वरमाला, बारात, मेहंदी और संगीत जैसे प्रतीक पारंपरिक रूप से विवाह संस्कार से जुड़े रहे हैं। Fake Wedding में इनका नए संदर्भ में प्रयोग होता है। इससे सांस्कृतिक प्रतीकों के **reinterpretation** की प्रक्रिया दिखाई देती है।

सामूहिकता का नया स्वरूप पारंपरिक विवाह में परिवार और रिश्तेदारी सामूहिकता का आधार होती है। Fake Wedding में मित्र, सोशल नेटवर्क और समान आयु के लोग इस सामूहिकता को निर्मित करते हैं। इस प्रकार सामूहिकता का आधार **kinship** से **peer culture** की ओर स्थानान्तरित होता दिखाई देता है।

उपभोक्तावाद Bauman (2003) के विचारों के संदर्भ में आधुनिक संबंधों और अनुभवों की अस्थिरता तथा बाजार-आधारित संस्कृति को समझा जा सकता है। Fake Wedding में विवाह के

अनुभव को टिकट, फैशन, संगीत, सजावट और फोटोग्राफी जैसी बाजार सेवाओं के माध्यम से खरीदा जाता है। इससे विवाह-संस्कृति के **commodification** का एक नया रूप सामने आता है।

सामाजिक पहचान Fake Wedding युवाओं को अपनी पहचान प्रदर्शित करने का अवसर भी देती है। व्यक्ति पारंपरिक परिधान, नृत्य, संगीत और डिजिटल पोस्ट के माध्यम से स्वयं को एक विशेष lifestyle से जोड़ सकता है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक चुनौतियाँ में विवाह संस्था के अर्थ को लेकर भ्रम यदि विवाह के सांस्कृतिक प्रतीकों को लगातार वास्तविक विवाह से अलग किया जाता है, तो विवाह संस्था के सामाजिक अर्थ को लेकर नई व्याख्याएँ विकसित हो सकती हैं।

सांस्कृतिक प्रतीकों का व्यावसायीकरण भारतीय विवाह परंपराएँ धार्मिक और सांस्कृतिक अर्थों से जुड़ी हैं। जब इन प्रतीकों को मुख्यतः मनोरंजन और बाजार के लिए प्रयोग किया जाता है, तो इनके सांस्कृतिक अर्थ के व्यावसायीकरण का प्रश्न उत्पन्न होता है।

सोशल मीडिया दबाव Fake Wedding जैसे ट्रेंड युवाओं में “participation pressure” उत्पन्न कर सकते हैं। सोशल मीडिया पर लोकप्रिय दिखाई देने वाली गतिविधियों में शामिल होने की इच्छा सामाजिक तुलना को बढ़ा सकती है।

उपभोक्तावादी दबाव वाह जैसी गतिविधियों का पार्टी और lifestyle experience में बदलना नए उपभोक्ता बाजार को जन्म दे सकता है। इससे मनोरंजन पर खर्च, फैशन, फोटोग्राफी और event management की मांग बढ़ सकती है।

पीढ़ीगत संघर्ष युवा पीढ़ी इसे मनोरंजन मान सकती है जबकि परिवार या बुजुर्ग इसे विवाह जैसे पवित्र या गंभीर संस्कार का अनुकरण मान सकते हैं। इससे मूल्यगत और पीढ़ीगत मतभेद उत्पन्न हो सकते हैं।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक संवेदनशीलता विवाह से जुड़े कुछ अनुष्ठान धार्मिक महत्व रखते हैं। अतः उनके मनोरंजक उपयोग को लेकर धार्मिक और सांस्कृतिक संवेदनशीलता का प्रश्न भी उत्पन्न हो सकता है।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण Fake Wedding की प्रवृत्ति को समझने के लिए कई समाजशास्त्रीय सिद्धांत उपयोगी हैं।

Beck और Beck-Gernsheim: Individualization Beck और Beck-Gernsheim (2002) के अनुसार आधुनिक समाज में व्यक्ति परंपरागत सामाजिक संरचनाओं से अपेक्षाकृत मुक्त होकर अपनी जीवन-शैली और संबंधों के संबंध में व्यक्तिगत निर्णय लेने की ओर बढ़ता है।

Goffman: Self-Presentation Goffman (1959) के dramaturgical approach के अनुसार सामाजिक जीवन में व्यक्ति विभिन्न भूमिकाओं और प्रदर्शनों के माध्यम से अपनी पहचान प्रस्तुत करता है। Fake Wedding इस अवधारणा का एक रोचक उदाहरण है। प्रतिभागी दूल्हा, दुल्हन, रिश्तेदार या बाराती जैसी भूमिकाएँ निभा सकते हैं, लेकिन इन भूमिकाओं का वास्तविक वैवाहिक संबंध से कोई आवश्यक संबंध नहीं होता। अर्थात् यहाँ role performance वास्तविक social status से अलग हो जाती है।

Giddens: Transformation of Intimacy Giddens (1992) ने आधुनिक समाज में अंतरंग संबंधों के परिवर्तन को व्यक्तिगत संतुष्टि और भावनात्मक चयन से जोड़कर देखा। Fake Wedding के संदर्भ में यह विचार महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ विवाह के स्थायी संबंध की अपेक्षा विवाह के अनुभवात्मक और मनोरंजक पक्ष को प्राथमिकता मिल सकती है।

Bauman: Liquid Modernity Bauman (2000, 2003) के विचारों में आधुनिक सामाजिक संबंधों की तरलता और अस्थिरता महत्वपूर्ण है। Fake Wedding को इसी व्यापक सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में देखा जा सकता है, जहाँ स्थायी संस्थागत प्रतिबद्धता की तुलना में क्षणिक अनुभव और व्यक्तिगत संतुष्टि महत्वपूर्ण हो सकते हैं। हालाँकि यह कहना उचित नहीं होगा कि प्रत्येक Fake Wedding प्रतिभागी विवाह-विरोधी है। यह केवल यह दर्शाता है कि विवाह से जुड़े अनुभवों को विवाह संस्था से अलग करके भी उपभोग किया जा सकता है।

Consumer Culture Hochschild (2012) तथा व्यापक consumer-culture literature के संदर्भ में Fake Wedding को अनुभवों के बाजारीकरण से भी जोड़ा जा सकता है। विवाह से संबंधित संगीत, फैशन, सजावट, भोजन और फोटोग्राफी अब केवल वास्तविक विवाह तक सीमित नहीं रहते; वे स्वतंत्र मनोरंजन उत्पाद भी बन सकते हैं।

इस दृष्टि से Fake Wedding एक व्यापक सामाजिक परिवर्तन की छोटी लेकिन महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसमें संस्था से अनुभव, परिवार से peer group, परंपरा से प्रदर्शन और संस्कार से मनोरंजन की ओर आंशिक बदलाव दिखाई देता है। फिर भी, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि Fake Wedding के संबंध में उपलब्ध भारतीय प्रमाण अभी मुख्यतः हाल की मीडिया रिपोर्टों और आयोजनों पर आधारित हैं। इसलिए इसे पूरे Gen Z की सार्वभौमिक प्रवृत्ति के रूप में प्रस्तुत करना शोध की दृष्टि से उचित नहीं होगा। इसे emerging urban youth cultural trend के रूप में देखना अधिक वैज्ञानिक होगा।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि विवाह भारतीय समाज में केवल व्यक्तिगत संबंध नहीं बल्कि एक व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक और पारिवारिक संस्था रही है। ऐतिहासिक रूप से विवाह ने परिवार

निर्माण, रिश्तेदारी, सामाजिक नियंत्रण, सांस्कृतिक निरंतरता और सामाजिक स्थायित्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आधुनिकता, शिक्षा, नगरीकरण, वैश्वीकरण और डिजिटल तकनीक के विस्तार ने विवाह के स्वरूप और उसके प्रति युवाओं की धारणाओं में परिवर्तन उत्पन्न किया है। Gen Z के संदर्भ में यह परिवर्तन विवाह के पूर्ण अस्वीकार के रूप में नहीं, बल्कि विवाह के अर्थ और अनुभव की पुनर्व्याख्या के रूप में अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। Fake Wedding इसी पुनर्व्याख्या की एक उभरती हुई अभिव्यक्ति है। इसमें विवाह की कानूनी या धार्मिक प्रतिबद्धता अनुपस्थित होती है, जबकि विवाह से जुड़े सांस्कृतिक प्रतीक, अनुष्ठान और मनोरंजनात्मक गतिविधियाँ मौजूद रहती हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से Fake Wedding को व्यक्तिवाद, self-presentation, बदलती अंतरंगता, तरल सामाजिक संबंधों और उपभोक्तावादी संस्कृति के अंतर्संबंध के रूप में समझा जा सकता है। Goffman के आत्म-प्रस्तुतीकरण सिद्धांत के अनुसार यह सामाजिक प्रदर्शन का रूप है; Beck और Beck-Gernsheim के व्यक्तिवादीकरण के संदर्भ में यह व्यक्तिगत चुनाव को दर्शाता है; जबकि Giddens और Bauman के विचार आधुनिक संबंधों की बदलती प्रकृति को समझने में सहायता करते हैं। इस प्रवृत्ति का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि विवाह के संस्कारात्मक और मनोरंजक आयामों के बीच अंतर अधिक स्पष्ट हो रहा है। युवा विवाह के बिना भी विवाह समारोह के अनुभव, फैशन, संगीत, नृत्य और सामाजिक उत्सव का आनंद लेना चाहते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि समकालीन युवा संस्कृति में परंपरागत सांस्कृतिक प्रतीकों को समाप्त करने के बजाय उनका नया अर्थ-निर्माण (reinterpretation) हो रहा है। अतः Fake Wedding को विवाह संस्था के संकट या अंत का प्रत्यक्ष प्रमाण मानना अतिशयोक्तिपूर्ण होगा। इसके बजाय यह बदलती युवा संस्कृति, डिजिटल सामाजिकता और अनुभव-आधारित उपभोक्तावाद की एक नई अभिव्यक्ति है। भविष्य में इस विषय पर प्राथमिक सर्वेक्षण, साक्षात्कार और प्रतिभागी अवलोकन के माध्यम से यह जानना महत्वपूर्ण होगा कि Fake Wedding में भाग लेने वाले युवाओं की वास्तविक विवाह संबंधी धारणाएँ क्या हैं तथा क्या यह प्रवृत्ति वास्तव में विवाह के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रभावित करती है। इस प्रकार, Fake Wedding विवाह संस्था के समाप्त होने की अपेक्षा उसके सांस्कृतिक अर्थों के पुनर्गठन की ओर अधिक संकेत करती है। यह परंपरा और आधुनिकता, संस्था और व्यक्तिगत स्वतंत्रता, वास्तविकता और प्रदर्शन तथा संस्कृति और बाजार के बीच बदलते संबंधों को समझने का एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय माध्यम प्रस्तुत करती है।

संदर्भ

1. Altekari, A. S. (1956). *The position of women in Hindu civilization: From prehistoric times to the present day*. Motilal Banarsidass.
2. Bauman, Z. (2000). *Liquid modernity*. Polity Press.
3. Bauman, Z. (2003). *Liquid love: On the frailty of human bonds*. Polity Press.

4. Beck, U., & Beck-Gernsheim, E. (2002). *Individualization: Institutionalized individualism and its social and political consequences*. SAGE Publications.
5. Giddens, A. (1992). *The transformation of intimacy: Sexuality, love and eroticism in modern societies*. Stanford University Press.
6. Goffman, E. (1959). *The presentation of self in everyday life*. Doubleday.
7. Goody, J. (1976). *Production and reproduction: A comparative study of the domestic domain*. Cambridge University Press.
8. Hochschild, A. R. (2012). *The managed heart: Commercialization of human feeling*. University of California Press.
9. Kane, P. V. (1974). *History of Dharmasastra (Ancient and mediaeval religious and civil law in India)*. Bhandarkar Oriental Research Institute.
10. Olivelle, P. (2005). *Manu's code of law: A critical edition and translation of the Manava-Dharmasastra*. Oxford University Press.
11. Westermarck, E. (1921). *The history of human marriage* (5th ed.). Allerton Book Co.
12. *The Economic Times*. (2025). Reports on the emergence of ticketed “fake wedding” events among urban youth in India.
13. *The Indian Express*. (2025, June–August). Reports on the emergence of “fake wedding” and “fake sangeet” events in Indian metropolitan cities.
14. *Mint*. (2025, June 27). Report on the “big fat fake wedding” event in Bengaluru and the participation of young people.
15. *India Today*. (2025). Reports on fake wedding/fake sangeet events in Delhi and other Indian cities.
16. *NDTV*. (2025). Reports on the growing popularity of fake wedding events in metropolitan India.
17. *The National*. (2025, August 22). Report on Gen Z and the emergence of “fake” Indian weddings in India and the UAE.

नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या व्यक्तिमत्त्व, भावनिक बुद्धिमत्ता व जीवन समाधानाचा तुलनात्मक अभ्यास

प्रज्ञा मेश्राम

संशोधनकर्ती (एम. ए. एम. एड.)
पदव्युत्तर शिक्षण विभाग राष्ट्रसंत तुकडोजी
महाराज नागपुर, विश्वविद्यालय, नागपुर

डॉ. प्रा. तीक्षा शामकूल

मार्गदर्शक, पीएच डी. (शिक्षणशास्त्र) नेट. एम.
ए. (मराठी) एम. एड. बी. लीब
पदव्युत्तर शिक्षण विभाग राष्ट्रसंत तुकडोजी
महाराज नागपुर, विश्वविद्यालय, नागपुर

सारांश

सध्याच्या बदलत्या सामाजिक परिस्थितीत महिलांच्या शैक्षणिक, आर्थिक व सामाजिक भूमिकांमध्ये लक्षणीय परिवर्तन झाले आहे. उच्च शिक्षणामुळे महिलांना रोजगाराच्या विविध संधी उपलब्ध झाल्या असून आर्थिक स्वावलंबन, सामाजिक सहभाग, निर्णयक्षमता आणि वैयक्तिक विकासाच्या दृष्टीने त्यांचे महत्त्व वाढले आहे. तथापि, नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या व्यक्तिमत्त्वातील वैशिष्ट्ये, भावनिक बुद्धिमत्ता आणि जीवन समाधान यांमध्ये फरक आढळतो का, हा महत्त्वपूर्ण संशोधनाचा प्रश्न आहे.

प्रस्तुत संशोधनात नोकरी करणाऱ्या व नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांचा तुलनात्मक अभ्यास करण्यात आला आहे. संशोधनासाठी एकूण 600 महिलांचा विचार करण्यात आला असून त्यापैकी 300 महिला नोकरी करणाऱ्या आणि 300 महिला नोकरी न करणाऱ्या आहेत. त्याचबरोबर शहरी व ग्रामीण पार्श्वभूमीच्या आधारेही तुलना करण्यात आली आहे. उपलब्ध आकडेवारीचे विश्लेषण करण्यासाठी मध्यमान, प्रमाण विचलन आणि t -मूल्याचा उपयोग करण्यात आला आहे.

अभ्यासाच्या उपलब्ध निष्कर्षांनुसार व्यक्तिमत्त्वाच्या संदर्भात नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान 117.333 तर नोकरी न करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान 113.156 आढळले आणि $t = 17.699$ नोंदविले गेले. भावनिक बुद्धिमत्तेच्या बाबतीत नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान 32.530 आणि नोकरी न करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान 32.573 असून $t = 1.339$ आढळले. जीवन समाधानाच्या बाबतीत

नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान 68.16 आणि नोकरी न करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान 67.023 असून $t = 25.723$ नोंदविले गेले.

प्रमुख शब्द : उच्चशिक्षित महिला, नोकरी करणाऱ्या महिला, नोकरी न करणाऱ्या महिला, व्यक्तिमत्त्व, भावनिक बुद्धिमत्ता, जीवन समाधान, तुलनात्मक अध्ययन.

प्रस्तावना

भारतीय समाजव्यवस्थेत महिलांचे स्थान ऐतिहासिकदृष्ट्या प्रामुख्याने कुटुंबकेंद्रित राहिले आहे. मात्र शिक्षणाचा प्रसार, औद्योगिकीकरण, नागरीकरण, आर्थिक बदल आणि महिलांच्या शैक्षणिक प्रगतीमुळे त्यांच्या सामाजिक भूमिकेत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन घडून आले आहे. आज महिला शिक्षण, प्रशासन, उद्योग, व्यवसाय, सेवा, संशोधन, आरोग्य आणि विविध व्यावसायिक क्षेत्रांत सक्रिय सहभाग नोंदवत आहेत.

महिलेचे उच्च शिक्षण हे केवळ तिच्या वैयक्तिक ज्ञानवृद्धीचे साधन राहिलेले नसून ते तिच्या आत्मनिर्भरतेसाठी, निर्णयक्षमतेसाठी आणि सामाजिक सहभागाशी जोडले गेले आहे. रोजगारामुळे महिलेला आर्थिक स्वावलंबन प्राप्त होण्याबरोबरच कुटुंबाबाहेरील सामाजिक अनुभव, विविध व्यक्तींशी संवाद, निर्णयप्रक्रियेत सहभाग आणि व्यावसायिक जबाबदाऱ्या स्वीकारण्याची संधी मिळते.

दुसरीकडे, नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांची भूमिका कुटुंबव्यवस्था, वैयक्तिक संबंध आणि घरगुती जबाबदाऱ्यांभोवती अधिक केंद्रित असू शकते. त्यामुळे नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या महिलांच्या व्यक्तिमत्त्वामध्ये, भावनिक प्रक्रियांमध्ये आणि जीवन समाधानामध्ये काही प्रमाणात फरक असण्याची शक्यता संशोधनाच्या दृष्टीने महत्त्वाची ठरते.

प्रस्तुत अभ्यासात याच पार्श्वभूमीवर उच्चशिक्षित महिलांच्या तीन महत्त्वपूर्ण पैलूंचा विचार करण्यात आला आहे—**व्यक्तिमत्त्व, भावनिक बुद्धिमत्ता आणि जीवन समाधान.**

संशोधनाची गरज

महिलांचे शिक्षण आणि रोजगार यांचा त्यांच्या व्यक्तिमत्त्वावर व जीवनानुभवावर होणारा परिणाम समजून घेणे आवश्यक आहे. विशेषतः उच्चशिक्षित महिलांमध्ये रोजगारस्थितीच्या आधारे होणारे मानसशास्त्रीय व सामाजिक फरक समजून घेतल्यास महिला सक्षमीकरण, कुटुंबव्यवस्था आणि सामाजिक विकासाच्या संदर्भात अधिक वस्तुनिष्ठ आकलन होऊ शकते.

या अभ्यासाची गरज पुढील कारणांमुळे अधोरेखित होते-

1. उच्च शिक्षण घेतलेल्या सर्व महिला रोजगाराच्या क्षेत्रात प्रवेश करतातच असे नाही.
2. रोजगारामुळे महिलांच्या सामाजिक व आर्थिक भूमिकेत परिवर्तन घडते.

3. रोजगाराचा व्यक्तिमत्त्व विकासाशी संबंध असण्याची शक्यता आहे.
4. विविध सामाजिक परिस्थितींमध्ये भावनांचे व्यवस्थापन करण्याची क्षमता महत्त्वाची ठरते.
5. जीवन समाधान हा व्यक्तीच्या सर्वांगीण मानसिक व सामाजिक समायोजनाचा महत्त्वाचा घटक आहे.
6. शहरी आणि ग्रामीण पार्श्वभूमीनुसारही या घटकांमध्ये फरक असण्याची शक्यता आहे.

संशोधन समस्या

“नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या व्यक्तिमत्त्व, भावनिक बुद्धिमत्ता व जीवन समाधानाचा तुलनात्मक अभ्यास”

संशोधनाची उद्दिष्टे

प्रस्तुत अभ्यासाच्या उपलब्ध आकडेवारीच्या आधारे पुढील उद्दिष्टे विचारात घेण्यात आली आहेत-

1. नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या व्यक्तिमत्त्वाचा तुलनात्मक अभ्यास करणे.
2. नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या भावनिक बुद्धिमत्तेचा तुलनात्मक अभ्यास करणे.
3. नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या जीवन समाधानाचा तुलनात्मक अभ्यास करणे.

याशिवाय उपलब्ध तक्त्यांमध्ये शहरी व ग्रामीण महिलांची स्वतंत्र तुलना करण्यात आलेली आहे. उदाहरणार्थ, नोकरी करणाऱ्या शहरी महिलांचे व्यक्तिमत्त्वाचे मध्यमान 58.665 आणि ग्रामीण महिलांचे 56.125 आहे; संबंधित t मूल्य 37.352 नोंदविले आहे.

संशोधन पद्धती

प्रस्तुत अभ्यास हा तुलनात्मक स्वरूपाचा संशोधन अभ्यास आहे. अभ्यासामध्ये नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या निवडक मानसशास्त्रीय घटकांची तुलना करण्यात आली आहे.

नमुना

एकूण नमुना : 600 महिला

गट	संख्या
नोकरी करणाऱ्या महिला	300
नोकरी न करणाऱ्या महिला	300
एकूण	600

उपलब्ध आकडेवारीमध्ये शहरी आणि ग्रामीण उपगटांचाही समावेश आहे. उदाहरणार्थ, नोकरी करणाऱ्या महिलांच्या शहरी व ग्रामीण गटांसाठी प्रत्येकी 150 अशा नमुन्याची नोंद आहे.

सांख्यिकीय विश्लेषण

उपलब्ध डेटाच्या विश्लेषणासाठी पुढील सांख्यिकीय साधनांचा वापर करण्यात आलेला दिसून येतो-

- मध्यमान (Mean)
- प्रमाण विचलन (Standard Deviation)
- t -मूल्य

संशोधनाच्या उद्दिष्टानुसार दोन स्वतंत्र गटांमधील मध्यमानांची तुलना करण्यात आली आहे.

निष्कर्ष व अर्थनिर्वचन

व्यक्तिमत्त्व

नोकरी करणाऱ्या 300 महिलांचे व्यक्तिमत्त्वाचे मध्यमान 117.333 आणि प्रमाण विचलन 1.333 आहे. नोकरी न करणाऱ्या 300 महिलांचे मध्यमान 113.156 आणि प्रमाण विचलन 3.870 आहे. संबंधित t मूल्य 17.699 आहे. उपलब्ध प्रकरणात हे मूल्य सांख्यिकीयदृष्ट्या महत्त्वपूर्ण असल्याचे अर्थनिर्वचन करण्यात आले आहे.

यावरून उपलब्ध आकडेवारीनुसार नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या महिलांच्या व्यक्तिमत्त्व गुणांमध्ये फरक आढळतो.

शहरी-ग्रामीण तुलना

नोकरी करणाऱ्या शहरी महिलांचे मध्यमान 58.665, तर ग्रामीण महिलांचे मध्यमान 56.125 आहे. संबंधित t मूल्य 37.352 आहे.

नोकरी न करणाऱ्या शहरी महिलांचे मध्यमान 56.578, तर ग्रामीण महिलांचे मध्यमान 54.216 आहे आणि संबंधित t मूल्य 12.698 आहे.

या आकडेवारीवरून शहरी व ग्रामीण उपगटांमध्येही व्यक्तिमत्त्वाच्या गुणांमध्ये फरक दिसून येतो.

भावनिक बुद्धिमत्ता

नोकरी करणाऱ्या महिलांचे भावनिक बुद्धिमत्तेचे मध्यमान **32.530** आणि प्रमाण विचलन **0.4219** आहे. नोकरी न करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान **32.573** आणि प्रमाण विचलन **0.4331** आहे. संबंधित t मूल्य **1.339** आहे. उपलब्ध प्रकरणातील अर्थनिर्वचनानुसार या फरकाला सांख्यिकीय महत्त्व प्राप्त झालेले नाही आणि शून्य परिकल्पना स्वीकारण्यात आली आहे. याचा अर्थ उपलब्ध नमुन्यात नोकरी करणाऱ्या व नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या भावनिक बुद्धिमत्तेच्या गुणांमध्ये लक्षणीय फरक आढळला नाही.

शहरी व ग्रामीण तुलना

नोकरी करणाऱ्या शहरी महिलांचे मध्यमान **16.265**, तर नोकरी न करणाऱ्या शहरी महिलांचे मध्यमान **15.079** आहे; संबंधित t मूल्य **15.0126** नोंदविले आहे. ग्रामीण गटांमध्ये नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान **16.286**, तर नोकरी न करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान **15.135** असून t मूल्य **13.541** आहे. येथे एक महत्त्वाची बाब नमूद करणे आवश्यक आहे: **PDF मधील एकूण गटासाठी दिलेले $t = 1.339$ आणि उपगटांसाठी दिलेली t मूल्ये यांच्यात सांख्यिकीय मांडणीच्या दृष्टीने स्पष्टता आवश्यक आहे.** त्यामुळे अंतिम प्रकाशित संशोधन लेखात मूळ SPSS output उपलब्ध असल्यास त्याची पुन्हा पडताळणी करणे योग्य राहिल.

जीवन समाधान

जीवन समाधानाच्या बाबतीत नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान **68.16** आणि प्रमाण विचलन **0.516** आहे. नोकरी न करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान **67.023** आणि प्रमाण विचलन **0.571** आहे. संबंधित t मूल्य **25.723** आहे.

उपलब्ध निष्कर्षानुसार दोन्ही गटांच्या जीवन समाधानाच्या गुणांमध्ये सांख्यिकीयदृष्ट्या महत्त्वपूर्ण फरक आढळला आहे.

शहरी व ग्रामीण उपगटांमध्ये नोकरी करणाऱ्या महिलांचे जीवन समाधानाचे मध्यमान अनुक्रमे **34.08** आणि **33.12**, तर नोकरी न करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान अनुक्रमे **33.511** आणि **32.412** आहे. संबंधित t मूल्ये अनुक्रमे **7.933** आणि **6.9119** अशी नोंदविलेली आहेत.

निष्कर्षांचे एकत्रित स्वरूप

चल	नोकरी करणाऱ्या महिला	नोकरी न करणाऱ्या महिला	<i>t</i>
व्यक्तिमत्त्व	117.333	113.156	17.699
भावनिक बुद्धिमत्ता	32.530	32.573	1.339
जीवन समाधान	68.160	67.023	25.723

वरील आकडेवारीतून तीन वेगवेगळे नमुने स्पष्ट होतात.

पहिला, व्यक्तिमत्त्वाच्या बाबतीत दोन्ही गटांमध्ये फरक दिसून येतो. दुसरा, भावनिक बुद्धिमत्तेच्या बाबतीत दोन्ही गटांचे मध्यमान जवळजवळ समान असून एकूण *t* मूल्य 1.339 आहे. तिसरा, जीवन समाधानामध्ये नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान नोकरी न करणाऱ्या महिलांपेक्षा अधिक असून उपलब्ध विश्लेषणात हा फरक महत्त्वपूर्ण असल्याचे नमूद आहे.

उपलब्ध माहितीच्या आधारे असे दिसून येते की रोजगार हा महिलांच्या व्यक्तिमत्त्वाशी आणि जीवन समाधानाशी संबंधित असलेला एक महत्त्वाचा सामाजिक संदर्भ ठरू शकतो. नोकरी करणाऱ्या महिलांना आर्थिक स्वावलंबन, व्यावसायिक जबाबदारी, सामाजिक संपर्क आणि निर्णयप्रक्रियेतील सहभागाच्या संधी उपलब्ध होतात. या अनुभवांचा त्यांच्या व्यक्तिमत्त्वातील काही पैलूंची संबंध असण्याची शक्यता प्रस्तुत आकडेवारीतून दिसते. नोकरी करणाऱ्या महिलांमध्ये आत्मविश्वास, निर्णयक्षमता आणि बहिर्मुख व्यक्तिमत्त्व अधिक असल्याचे नमूद केले आहे.

तथापि, भावनिक बुद्धिमत्तेच्या बाबतीत एकूण गटांचे मध्यमान जवळपास समान आहे. नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान 32.530 तर नोकरी न करणाऱ्या महिलांचे 32.573 आहे. त्यामुळे केवळ रोजगारस्थितीच्या आधारावर भावनिक बुद्धिमत्तेत मोठा फरक असल्याचे या आकडेवारीवरून म्हणता येत नाही.

जीवन समाधानाच्या बाबतीत मात्र नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान अधिक आहे. उपलब्ध प्रकरणातील अर्थनिर्वचनात याचे स्पष्टीकरण आर्थिक स्वातंत्र्य, व्यापक सामाजिक संपर्क, आर्थिक आत्मनिर्भरता आणि वैयक्तिक निर्णयक्षमता यांच्याशी जोडलेले आहे.

प्रस्तुत अभ्यासातून उपलब्ध आकडेवारीच्या आधारे पुढील निष्कर्ष नोंदविता येतात.

1. नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या व्यक्तिमत्त्व गुणांमध्ये फरक आढळला.
2. नोकरी करणाऱ्या महिलांचे व्यक्तिमत्त्वाचे मध्यमान नोकरी न करणाऱ्या महिलांपेक्षा अधिक होते.
3. शहरी व ग्रामीण नोकरी करणाऱ्या महिलांच्या व्यक्तिमत्त्व गुणांमध्ये फरक नोंदविला गेला.
4. नोकरी न करणाऱ्या शहरी व ग्रामीण महिलांमध्येही व्यक्तिमत्त्व गुणांमध्ये फरक दिसून आला.
5. भावनिक बुद्धिमत्तेच्या बाबतीत दोन्ही मुख्य गटांचे मध्यमान जवळपास समान होते.
6. उपलब्ध एकूण 1 मूल्याच्या आधारे भावनिक बुद्धिमत्तेतील फरक सांख्यिकीयदृष्ट्या महत्त्वपूर्ण नसल्याचे प्रकरणात नमूद आहे.
7. जीवन समाधानाच्या बाबतीत नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान नोकरी न करणाऱ्या महिलांपेक्षा अधिक होते.
8. शहरी तसेच ग्रामीण उपगटांमध्येही नोकरी करणाऱ्या महिलांचे जीवन समाधानाचे मध्यमान अधिक आढळले.
9. उपलब्ध निष्कर्षांच्या आधारे रोजगारस्थितीचा व्यक्तिमत्त्व आणि जीवन समाधानाशी संबंध दिसून येतो; मात्र भावनिक बुद्धिमत्तेबाबत असा स्पष्ट फरक आढळत नाही.

शैक्षणिक व सामाजिक उपयोजन

1. महिला सक्षमीकरण

महिलांच्या शिक्षणाबरोबरच त्यांच्या आर्थिक व सामाजिक सहभागाला प्रोत्साहन देण्यासाठी हा अभ्यास उपयुक्त ठरू शकतो.

2. समुपदेशन

उच्चशिक्षित महिलांच्या व्यक्तिमत्त्व विकासासाठी आणि जीवन समाधानासाठी समुपदेशन कार्यक्रम आखताना या निष्कर्षांचा विचार करता येईल.

3. कुटुंब व कार्यक्षेत्र

महिलांच्या कौटुंबिक आणि व्यावसायिक भूमिकांमध्ये संतुलन निर्माण करण्यासाठी संस्थात्मक पातळीवर उपाययोजना करण्याची आवश्यकता अधोरेखित होते.

4. ग्रामीण महिला

शहरी व ग्रामीण गटांमध्ये आढळलेल्या फरकांचा विचार करून ग्रामीण उच्चशिक्षित महिलांसाठी रोजगार, कौशल्यविकास आणि समुपदेशनाच्या संधी वाढविणे उपयुक्त ठरू शकते.

संशोधनाच्या मर्यादा

1. प्रस्तुत संशोधन हे शिक्षाशास्त्र व शैक्षणिक मानसशास्त्रावर आधारित आहे
2. प्रस्तुत संशोधन हे नोकरी करणाऱ्या आणि न करणाऱ्या उच्चशिक्षित महिलांच्या व्यक्तिमत्त्व, भावनिक बुद्धिमत्ता व जीवन समाधानावर आधारित आहे.
3. प्रस्तुत संशोधन हे नागपूर जिल्ह्यातील ग्रामीण व शहरी महिला यांच्याशी मर्यादित आहे

निष्कर्ष

महिलांच्या सामाजिक भूमिकेत शिक्षण आणि रोजगारामुळे झालेल्या परिवर्तनाच्या संदर्भात प्रस्तुत अभ्यास महत्त्वपूर्ण आहे. 600 उच्चशिक्षित महिलांच्या उपलब्ध आकडेवारीच्या आधारे नोकरी करणाऱ्या आणि नोकरी न करणाऱ्या महिलांच्या व्यक्तिमत्त्व, भावनिक बुद्धिमत्ता आणि जीवन समाधानाचा तुलनात्मक विचार करण्यात आला.

अभ्यासातील आकडेवारीनुसार व्यक्तिमत्त्वाच्या बाबतीत नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान अधिक आढळले. भावनिक बुद्धिमत्तेच्या बाबतीत दोन्ही गटांचे गुण जवळजवळ समान असून सांख्यिकीयदृष्ट्या महत्त्वपूर्ण फरक आढळला नाही. जीवन समाधानाच्या बाबतीत नोकरी करणाऱ्या महिलांचे मध्यमान अधिक असून उपलब्ध / मूल्यांच्या आधारे हा फरक महत्त्वपूर्ण असल्याचे प्रकरणात नमूद करण्यात आले आहे.

त्यामुळे प्रस्तुत अभ्यासातून असे दिसून येते की उच्च शिक्षणाबरोबर रोजगाराचा अनुभव महिलांच्या व्यक्तिमत्त्व विकास आणि जीवन समाधानाशी संबंधित असू शकतो; मात्र भावनिक बुद्धिमत्ता ही केवळ रोजगारस्थितीवर अवलंबून नसल्याचे उपलब्ध आकडेवारी सूचित करते.

संदर्भ सूची

1. Bala, M., & Lakshmi. (1992). Perceived self in educated employed and educated unemployed women. International Journal of Social Psychiatry, 38(4),257–261. <https://doi.org/10.1177/002076409203800403>
2. Barik, S., Priyadarshini, P. P., & Rath, S. (2022). Life satisfaction in Indian women: The role of employment status and emotional intelligence. International Journal of Creative Research Thoughts, 10(4), a969–a974.

3. Diener, E., Emmons, R. A., Larsen, R. J., & Griffin, S. (1985). The satisfaction with life scale. *Journal of Personality Assessment*, 49(1), 71–75. https://doi.org/10.1207/s15327752jpa4901_13
4. De Gieter, S., De Cooman, R., Bogaerts, Y., & Verelst, L. (2021). Explaining the effect of work–nonwork boundary management fit on satisfaction and performance at home through reduced time- and strain-based work–family conflict. *Journal of Applied Psychology*. <https://doi.org/10.1111/apps.12314>
5. Shah, C., Raval, A., Bhatia, M., & Thanki, S. (2025). Work-life balance among working women: A study with reference to service industry. *Asia Pacific Journal of Management Research and Innovation*. <https://doi.org/10.1177/09711023251321667>

Cultivating Discernment: Yogic Approaches To Responsible Ai

Neha Somani

Student, M.Sc Yoga and Meditation,
Department of Wellness and Yogic
Science, MIT-WPU, Pune,
Maharashtra.

Dr. Suman Rawat

Assistant Professor, Department of
Wellness and Yogic Science, MIT-
WPU, Pune, Maharashtra

Abstract

As India moves towards its vision of Viksit Bharat 2047, artificial intelligence is increasingly becoming the driving force that shapes the future of governance, education, healthcare, welfare, and economic development. Artificial intelligence offers unprecedented efficiency and scale, yet recent experiences worldwide highlight a key challenge: technical success alone does not ensure fairness.

This chapter discusses how the pursuit of responsible and inclusive AI in a developed India demands more than faster algorithms and stricter regulations. It demands sharpening the quality of awareness that designs and uses the technological power. Through the use of real-life examples from India and other countries around the world, such as deepfake videos, biometric authentication for welfare benefits, recommendation algorithms, and healthcare risk prediction, this chapter will demonstrate how automation can be used to further entrench inequalities when efficiency is prioritized over judgment and metrics are used to mask reality.

In order to fill this gap, this chapter proposes a yogic approach to responsible AI based on the idea of *viveka* (discernment) and the Eight Limbs of Yoga. Contrary to the wellness or spiritual approach to yoga, this approach considers yoga as a discipline to cultivate attention, control, accountability, and ethical discernment in the context of speed and scale. Each of the Eight Limbs of Yoga is correlated to a challenge in the field of AI, such as the prevention of harm, responsibility diffusion, robustness in different contexts, data minimization, effective human oversight, continuous ethical monitoring, and alignment between technological objectives and human growth and welfare.

The chapter underlines that mindfulness and yogic practice are not alternatives to policy, technical security, or institutional accountability. Rather, these practices serve as tools to enhance awareness, helping engineers, managers, policymakers, and citizens recognize bias, resist the overreach of automation, and pause before making irreversible decisions. By connecting individual practice, institutional culture, and public governance, the chapter frames discernment as a vital resource for India's technological future. Finally, the chapter concludes that Viksit Bharat 2047 will be remembered not only for its technological development but also for the wisdom with which it chooses to develop its technology. The development of wisdom is thus offered as the infrastructure for developing AI.

The Illusion of Authority and Authenticity

In 2023, the Bengaluru deepfake case made a lot of noise. A working professional woman lost around ₹3.7 crore to a digital fraud (Express News Service, 2025). According to CERT-In, there has been a 400% rise in online scams. But this case drew media attention because the way it was executed. The lady was shown a video that supposedly featured Jaggi Vasudev (Sadhguru), a widely known spiritual figure. The voice, expressions, body language, and calm authority all felt real. The video spoke persuasively about an investment opportunity and inspired trust.

Later, it was revealed that the video was a deepfake and was created using AI to convincingly imitate a real person. The follow-up messages reinforced the illusion of legitimacy. By the time fraud was detected, the damage was already done.

Technically, nothing failed. The AI worked exactly as designed. The deeper failure was human. As humans, we trust our sense of hearing and seeing to believe and infer. When we see a familiar face and recognize a voice, our brain associates them with the people and emotions we connect with. In this case, the women associated the face and voice with trust. Someone she believed in and followed. Never did she think that it could also be a deepfake video spreading false information. Generative AI doesn't just spread false information; it also erodes the very signals we use to decide what is real.

The woman was neither careless nor uninformed. She responded in ways most people would. Trusting the authority, relying on what she could see and hear, and acting on perceived legitimacy. The scam succeeded because it exploited normal cognitive shortcuts.

From a yogic perspective, this reflects a loss of *viveka*. *Viveka* is understood as the ability to discern appearance from reality. As AI becomes increasingly convincing, the burden on human awareness increases. Responsible AI, therefore, is not only a technical challenge but a human one. Without cultivating reflection and discernment, even well-functioning systems can cause lasting damage.

The Paradox of Progress

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ---- *Yoga Sutras 1.2*

yogaś citta-vṛtti-nirodhaḥ

Yoga is the stilling of the fluctuations of the mind.

Social differences rooted in skin color, caste, gender, and religion have been present throughout history. Human progress has involved not only acknowledging these biases but also developing measures to counteract them. The last thing we want is for AI to encode these differences for the future based on biased data.

Research found that Instagram's algorithm suggested skin-lightening products to users, including children. This was based on the algorithms learning that people searching for wedding-related items also purchased skin-whitening products (Kumar, 2024). The algorithm was accurate in identifying patterns, but it reinforced harmful social biases about beauty and value.

No one added prejudice to the code. The system learned from people's actions and aimed for engagement. The algorithm copied the world as it was, without asking if it should keep those patterns.

Another example worth considering is the Aadhaar-based biometric identification system. It was designed to curb corruption, ensure benefits reach the intended recipients, and make welfare delivery more efficient. The system worked well in concept. However, its designers did not fully anticipate that biometric markers could change over time due to aging, illness, or harsh physical labor. Elderly citizens and manual laborers in rural Jharkhand and Rajasthan had fingerprints so worn that they could not be registered (Khera & Drèze, 2019; Yadav, 2024). Citizens were denied food not because they did not have a right to it, but because their bodies were proof of labor that the technology could not capture. Once more, the technology was successful. Judgment failed to pause long enough to ask what "working" actually meant, and for whom.

This is the paradox of progress. India has built technology on a huge scale, from UPI payments changing commerce to AI tools helping millions of farmers.

AI has a unique trait: it amplifies whatever human qualities are already present. AI does not create our biases; it holds up a mirror to them. What once operated quietly in human systems becomes clearer, louder, and harder to ignore when it is automated.

This is not just a software issue. The Yoga Sutras described it long ago as a *citta-vṛtti* problem, a matter of mental habits and how our awareness responds, or fails to respond, to complexity and power.

What Yoga Understood Before Algorithms

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् --- *Yoga Sutras 2.33*

vitarka-bādhane pratipakṣa-bhāvanam

When disturbed by negative thoughts, opposite [positive] ones should be thought of.

Yoga, beyond its modern image of wellness, is not mainly about flexibility or stress relief. It is a method for training attention, self-control, and good judgment under pressure. At its core, it asks a practical question: What happens to our judgment when our minds are restless, reactive, or overwhelmed?

The ancient texts make a simple but important point. When the mind is scattered, or *vikṣipta*, people do not lose their ethics because they become bad. Instead, they become reactive, tired, and rushed. They stop paying attention, delegate without thinking, and mistake efficiency for wisdom.

Amazon's hiring algorithm didn't penalize women because engineers were sexist (Dastin, 2018). It learned from historical hiring data that reflected decades of workplace inequality, then embedded those patterns into the future. The system performed its task perfectly. What was missing was someone pausing long enough to ask: Should past patterns determine future possibilities?

Recommendation algorithms do not invent outrage or polarization. They discover what captures attention: fear, anger, moral certainty, and then optimize relentlessly for engagement. The platforms perform exactly as designed. What is missing is the recognition that engagement is not the same as well-being, and that what compels is not always what serves.

In each case, the failure is a lack of *viveka*, or discernment. It's the ability to pause, ask questions, notice when efficiency becomes its own goal, and decide when not to trust what only seems best.

***Viveka* in Practice: The Hospital Algorithm**

To see what discernment really means and what happens when it's missing, consider a real case from the United States that carries a warning for any country using AI in healthcare.

In 2018, a large hospital system introduced an algorithm to flag patients who might need extra medical care (Obermeyer et al., 2019). The idea was sensible. Healthcare resources are limited, early support can save lives, and data seemed a fair way to decide who needed the most help. To do this, a new automated system was designed and trained on previous hospital data. The hospital algorithm evaluated parameters such as historical records, past diagnoses, medications, and hospital visits. Based on this training dataset, it assigned risk scores to patients and flagged those who needed extra medical care. Initially it seemed that the algorithm was working as expected.

However, researchers found something disturbing in the evaluation. Black patients, even when as sick or sicker than white patients, were considered to be lower risk (Obermeyer et al., 2019). The algorithm was not flawed. It was doing exactly what it was designed to do.

The actual problem was what the system decided to measure.

The algorithm employed healthcare expenditure as a proxy for healthcare need. Since black patients had received less care because of bias, barriers, and inequity, they looked "healthier" in the data (Obermeyer et al., 2019). Old injustice has silently become a prediction for the future. No one stopped to wonder if spending truly reflected need. No one noticed that efficiency was being equated with fairness. The numbers were clear, so the questions were not raised.

This is what happens without *viveka*: forgetting that accuracy is not the same as truth, that patterns do not explain everything, and that a system can be precise but still very wrong.

Now imagine this in India, where access to healthcare is already shaped by geography, gender, caste, and income. An algorithm trained on existing patterns

would not fix these gaps; it would freeze them into code and hide them behind a mask of neutrality.

Responsible AI is more than improved models or stricter regulations. It begins with a new way of seeing, one that pauses, asks questions, and observes what the data does not reveal.

The Eight Limbs as a Framework for Responsible AI

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि *Yoga Sutra 2.29*

yamaniyamāsanaprāṇāyāmapratyāhārādhāraṇādhy

ānasamādhayo ’ṣṭāvaṅgāni .

If you consider the failures of AI in sectors such as education, recruitment, welfare, justice, and healthcare, you will see a pattern. The failures occur when ethical considerations are rushed, when scale substitutes for care, and when people cease to notice what they are handing over to the machines.

1. *Yama* (Restraint): Does This Cause Harm?

The question asked by Ahimsa, non-harm, is the most fundamental: Does this system cause harm, even if unintentionally? In AI ethics, this question becomes one of fairness, non-discrimination, and trust.

But *ahimsa* is more than just avoiding obvious harm. It is a call to consider the unseen consequences and cumulative harms. For instance, when facial recognition is less accurate for darker-skinned individuals, the harm may be slight in one instance, but when aggregated over millions of instances of hiring, policing, and service, the harm becomes grave.

Another example is the proctoring software used for Indian students during the pandemic (Selvaraj et al., 2021). The software was intended to ensure that exams remain fair and that cheating does not occur. However, the software ended up doing harm by failing to consider the context in which students were undertaking

the exams. *Ahimsa* would have required us to consider the question: Who might this hurt, and what might we have missed? For example, the new AI-driven credit scoring models are being developed in India. The current credit-scoring criteria already discriminate against informal-sector workers, women without credit histories, and those living in rural areas. An AI model trained on the current dataset will not remove these discriminations; it will merely accentuate them, thereby denying credit to those who are already marginalized. *Ahimsa* asks us to pause and consider: What measure of creditworthiness are we encoding, and whose futures are we foreclosing?

2. Niyama: Discipline and Responsibility — Who Takes Accountability?

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः --- *Yoga Sūtra* 2.32

śauca-saṁtoṣa-tapaḥ-svādhyāya-iśvarapraṇidhānāni niyamāḥ

Purity, contentment, disciplined effort, self-study, and surrender to a higher purpose are the observances.

Niyama points out that "intent matters, but accountability matters more." Moral failures in complex systems are not usually the result of nobody caring, but because of the loss of accountability during various phases of design and use.

In cases where an algorithm denies a person welfare benefits, who is accountable? The data scientist who developed the model? The manager who signed off on the model's deployment? Or the policymaker who decided that the model is apt to use? Or the software system itself, which is said to have “made” the decision?

A current example that is both disturbing and telling is the lawsuit filed in the United States, in which it is claimed that interactions with an AI-powered chatbot contributed to a teenager's suicide (Garcia v. Character Technologies, Inc., 2024). The AI system did not give commands. It did not intend to do harm. Nevertheless, the question that is at the heart of the lawsuit is one that cannot be avoided: When an AI system influences human behavior, where does the responsibility lie? With the developers who created the conversational patterns? The company that released

the system without adequate safeguards? Or nowhere at all?

This is a typical pattern where responsibility vanishes. Each individual can claim, “I just wrote the code,” “I just followed the policy,” or “I trusted the system.” *Niyama* is supposed to put an end to this moral passing.

The key idea of *Niyama* is *svādhyāya*, which is self-study and self-reflection. For artificial intelligence systems, *svādhyāya* involves auditing the system not only at the time of deployment but at every stage of the life cycle of the system. It also involves institutions checking whether the result aligns with their intentions. When the results do not align, changes are required. Coming back to the Aadhaar case, when a system goes wrong, and a family is denied its monthly ration, the system logs may simply indicate “failure to authenticate” (Khera & Drèze, 2019). But the family goes hungry. The bureaucratic reply, “the system said no,” indicates a problem with *niyama*. *Niyama* holds that this is not enough. Accountability must lie with a flesh-and-blood individual who is responsible for the outcome, not just with the process.

3. *Asana* (Stability): Performance Across Conditions

Asana, often misunderstood as only about physical exercise, is actually about developing stability. An experienced yogi can hold a position not only in a controlled environment, like a peaceful yoga studio with a flat floor, but also in the wind, on an uneven surface, and when tired. For AI, this means systems should perform well in real-world conditions, not just in test conditions. If an algorithm performs well on clean data from city hospitals but not in rural clinics with poor data quality, then it has not reached *asana*.

This is particularly important in the Indian context. A voice recognition system trained on urban, English-speaking users may work well in Bengaluru but fail catastrophically in rural Bihar. An agricultural AI that assumes regular internet connectivity and smartphone access might be technically sophisticated, but practically useless for the farmers who need it most and have low internet connectivity.

Asana, as a principle, insists that we ask if the system stays reliable when things are not perfect. When the system fails, can we tell that it has failed, or does it quietly pass off errors as credible answers?

4. *Pranayama* (Regulation): Controlling the Flow of Power

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः --- *Yoga Sutras 2.49*

tasmin sati Śvāsa-praŚvāsayor gati-vicchedaḥ prāṇāyāmaḥ

This being accomplished, pranayama is the cessation of the movement of inhalation and exhalation.

Pranayama involves controlling the breath and managing the flow of energy in the body. If you release too much energy too fast, you might hyperventilate, feel dizzy, or lose control. If you hold back too much, you can feel suffocated.

This is similar to how we use AI. How much computational, economic, or social power are we releasing? And how is the system monitored post-deployment?

Consider the rollout of generative AI tools for educational assessment in Indian schools. The technology can grade assignments, generate practice questions, and even provide personalized feedback. The learning tool is efficient at scale, enabling one teacher to serve hundreds of students effectively.

However, when this tool is implemented without adequate teacher training and error-detection mechanisms, how will this impact the teacher-student relationship and students' learning? Teachers will begin to trust algorithms they don't fully comprehend. Students will learn to game the algorithm rather than comprehend the subject matter.

Pranayama would recommend using technology gradually, allowing time to observe and provide human oversight, with the ability to withdraw if issues arise. Power, like breath, must be conserved.

5. *Pratyahara* (Withdrawal): Restraint in Data Collection

Pratyahara is the withdrawal from the senses and not taking in as much as you can.

A growing trend among today’s youth is the rise of digital detoxes. A rising number of students and young professionals are deliberately limiting their screen time, turning off notifications for non-essential apps, or taking a break from social media. This position in no way represents a disdain for technology. It recognizes that constant digital engagement can lead to a divided mind, increased stress levels, and reduced contemplative ability. In yogic terms, this self-control represents *pratyahara*.

A similar shift is also observed in responsible technology design. More and more organizations are now embracing data minimization as a fundamental design principle, rejecting the assumption that more data is always better than less. Instead of trying to capture as many behavioral data points as possible, these technologies are designed to function with minimal data that is relevant to the purpose at hand.

Both paths lead to the same realization: *pratyahara* is a withdrawal from excess, not from engagement. Whether it is used to discuss personal online behavior or to design a system, it encourages a discerning approach to what is actually needed to intake. In a context of abundance and automation, the ability to say “enough” is not restrictive but rather intelligent.

6. *Dharana* (Concentration): Meaningful Human Oversight

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा --- *Yoga Sutras 3.1*

deśa-bandhaś-cittasya dhāraṇā

Concentration is the binding of consciousness to a single point.

Dharana means having focused, sustained attention. Today, we all have fragmented attention that defines much of modern digital life. In the context of AI governance, *dharana* asks for genuine human engagement and not just a checkbox to be ticked off. It requires us to pause, reflect, and consciously decide whether to accept or challenge the system's suggestions.

A key challenge here is automation bias. It is a general tendency to trust algorithmic outputs simply because they appear objective and reliable. Consider a

content moderator or platform administrator reviewing hundreds of AI-flagged posts each day. When volume is high, decisions are often approved in seconds, not because they are correct, but because the system has already judged them.

Dharana pushes back against this pattern. It encourages smaller decision batches, deliberate pauses, and system designs that preserve human presence at critical points. In some high-impact contexts, it may even require stepping away from full automation altogether.

This approach is undeniably slower and more demanding. Yet *dharana* reminds us that not every decision should be optimized for speed. Some require attention, responsibility, and the ability to be present with complete awareness.

7. *Dhyana* (Meditation): Continuous Awareness

Dhyana means maintaining continuous awareness for a longer period. It means that organizations developing generative AI algorithms make ethical AI a development pillar rather than a one-time task. As the world changes, so must the system and processes surrounding it. What may have been a fair algorithm at the time of its deployment may become biased as society and economy changes.

Dhyana, when seen with the responsible AI lens for Viksit Bharat, will require that systems are monitored even after the rollout. It requires constant observation, periodic review, and a receptive attitude towards feedback and our own limitations.

India is proud of its UPI model, which is a great example of both the promise and the challenge in this regard. The system's success has been phenomenal, with over 600 banks connected to its network. Monthly, transactions worth over 21 million are processed. For the system to deliver with such high efficiency, it requires constant monitoring to identify fraud patterns, improve accessibility, and keep up with users' changing needs. As soon as the focus wavers, issues start piling up. This is *dhyana*: the practice of ethics as a process, not an accomplishment.

7. *Samadhi* (Integration): Alignment with Purpose

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः --- *Yoga Sutras 3.3*

tad-evārtha-mātra-nirbhāsaṃ svarūpa-śūnyam-iva samādhīḥ

When the object alone shines forth, as if devoid of the thought of even the witness, that is samadhi.

Samadhi is all about full integration. It means that the distinction between the observer and the observed, or between the means and the ends, exists no more. It basically asks: Is technology serving the ultimate goal?

Technology for the benefit of humans to thrive will look different from humans for the benefit of technology. An education system that leverages AI to support students at their own pace, detect struggling students early, and enable teachers to do what only humans can do is aligned with the purpose. An education system that seeks to optimize engagement metrics, resulting in more screen time but poorer attention spans, is misaligned. *Samadhi* encourages us to take a step back from optimization and ask: Optimized for what? Efficient for what purpose? Successful by whose standards?

This is perhaps the most difficult limb to implement because it involves challenging our own objectives, realizing that what we are measuring may not actually matter, and that our concept of success may have to shift.

The diagram below summarizes how the eight limbs of yoga integrate with responsible AI use:



From Individual Practice to Institutional Culture

Mindfulness and yogic approaches to responsible AI cannot be just another way of putting the onus on the individual while shifting the responsibility away from the institution. Asking people to meditate more isn't the solution; it's just a way to avoid fixing the problem. Mindfulness cannot replace regulation, accountability, or the correction of power imbalances in artificial intelligence. However, mindfulness can shift the mindset that enables meaningful change.

- An engineer trained to pause is more likely to notice unusual system behavior, uninvestigated data assumptions, or the creep of speed over ethics—not because of its superiority, but because of its increased attentiveness.
- A manager with *Viveka* is less likely to blindly trust algorithmic outputs. They are more likely to doubt suggestions, notice warning signs, and listen when they feel something is not right, even when the numbers look good.
- At the organizational level, reflective teams ask themselves: What are we missing? Who might be impacted? What are the implications of pausing?

This goes beyond mindfulness and includes risk awareness and ethical decision-making.

- On the policy level, this same philosophy translates regulatory policy from a single event to a continuous process of learning and adaptation. While individual awareness is part of building expertise, institutional culture determines whether that expertise is developed or ignored.

What This Means for Different Stakeholders

1. For Students and Young Professionals

You are entering a world where algorithms determine your opportunities. From the posts you see to how you are assessed, everything is driven by machines. Mindfulness is like getting the remote control back.

Instead of your brain being on autoplay—scroll, tap, react—you get to pause, focus, and choose what actually matters to you, not just whatever pops up next.

When an algorithm recommends content, you can observe: Is this what I want, or what I’m scrolling through? When a system assesses you, you can ask: Does this capture what’s important about me, or just what can be measured easily? When AI proposes to optimize your life, you can pause and wonder: Optimized for what, exactly?

This is not a rejection of technology. It is about using technology in a conscious way, rather than the other way around. It is about controlling your own development rather than being shaped by algorithmic suggestions.

2. For Engineers and Developers

Developers and engineers are the real people behind the AI automation.

The systems you build affect people at every level. A low credit score can snatch away someone's dream of a beautiful house. Or a wrong inference can accuse an honest person of a crime they never committed. The ability to pause and reflect on the assumptions you are building into the system will matter.

It's not about being less rigorous or less ambitious. It's about applying the same level of care you would to your code to the human questions that code can't answer: What am I building into this system without realizing it? Whose needs am I centering? What am I measuring as success, and why? It is when you are under pressure to go fast and trust the numbers that it is important to pause. It may seem like you are slowing down, but if you are going fast in the wrong direction, you are not making real progress.

3. For Managers and Leaders

You are always under pressure to automate, scale, and optimize. AI promises fast efficiency. Mindfulness gives you something that may seem opposite but is not: the ability to move quickly in a way that lasts.

Because automation bias is real. Systems that look objective often aren't. Efficiency gains that create invisible costs often outweigh visible benefits. The manager who pauses to question, seek diverse input, and maintain genuine oversight avoids catastrophic failures that can wipe out quarters of gains in a single day.

This means building teams that value good judgment as much as speed, make room for questions even when answers seem clear, and see "I'm not sure" as a sign of wisdom, not weakness.

4. For Policymakers and Regulators

For regulators, it means examining the large-scale growth of artificial intelligence and warns against treating rule-making as a finished solution.

Because of the fast-paced growth of artificial intelligence, conditions change, and unforeseen issues arise. In contrast, the yogic tradition provides a governance framework defined in terms of practice rather than as a finished solution. This involves:

- Regular re-evaluation with the intention of not only ensuring compliance with the rules but also assessing whether the measures in place are effective in mitigating the harm
- Humility about epistemic limitations, coupled with processes for learning from failure
- Listening to those who are most impacted, with a special focus on lifting up voices that have been historically marginalized from the conversation This is not an anti-innovation measure. It is about understanding that innovation without wisdom results in chaos.

5. For Citizens and Users

You are not simply passive consumers of AI. You are part of what gets created and how it gets used. Your attention counts. Your data matters. Your feedback is valuable.

Mindfulness is what helps you pay attention when you are being steered, when convenience conceals observation, and when "personalization" is actually manipulation. It is the difference between mindless scrolling and intentional use of your time, between perceiving algorithmic recommendations as objective and recognizing that they represent certain values.

This awareness does not mean that one should shun technology. It means that one should use technology more wisely and move away from those who take advantage. A detailed 21-day reflective practice illustrating the application of discernment in everyday interactions with AI systems is provided in Appendix A. This is a great tool to start recognising the impact of AI on your everyday life and to start making choices that matter.

The Path Forward: India is at a special juncture where we can integrate wisdom with innovation. Our use of AI in education, healthcare, agriculture, the government, and industry, impacting hundreds of millions of people is still in growing stages. Our yogic culture has a rich heritage that views attention, self-control, and discrimination as abilities that can be acquired, rather than mere ideals. If India develops responsible AI on a large scale, it will not be because it has the strongest algorithms or is the fast processors. It will be because it has developed the awareness that is required to use that power wisely.

Conclusion: Mindfulness in the Age of AI

योगः कर्मसु कौशलम् --- Bhagavad Gita 2.50

yogaḥ karmasu kauśalam

Yoga is a skill in action.

The future of AI will not be shaped by how fast machines learn. It will depend on whether people pause long enough to notice what is measured and what is missed, to ask whether efficiency has replaced wisdom, and to choose with awareness rather than by habit.

Responsible AI does not start with code. It starts with awareness. Every time you notice your breath, question an assumption. When you are truly present, you are practicing the discernment needed in our technological age.

In a world rushing toward automation, being present is no longer a luxury. It is essential infrastructure.

The cancelled exam, the unfair algorithm, and the system that optimized for the wrong thing all have the same root cause. The problem was not a lack of intelligence, but a lack of wisdom. It was not bad technology, but not paying enough attention to what the technology was really doing.

Yoga, it turns out, has been preparing us for this all along. It does not reject progress, but trains the mindset that progress needs. It does not slow innovation,

but slows our reactions. It does not make us less able, but more aware of how we use our abilities.

The real question for India, and for any society facing this change, is not if AI will change our world. It will. The question is whether we will develop the shared wisdom to shape AI in return.

References

1. Dastin, J. (2018, October 10). Amazon scraps secret AI recruiting tool that showed bias against women. Reuters. <https://www.reuters.com/article/us-amazon-com-jobs-automation-insight-idUSKCN1MK08G>
2. Express News Service. (2025, September 11). Bengaluru woman defrauded out of Rs 3.75 crore with Sadhguru's deepfake video: Police. The Indian Express. <https://indianexpress.com/article/cities/bangalore/bengaluru-woman-defrauded-crore-sadhguru-jaggi-vasudev-deepfake-ai-police-10243694/>
3. Garcia, M. L. v. Character Technologies, Inc. (2024). Complaint for wrongful death, negligence, and deceptive trade practices. U.S. District Court for the Middle District of Florida.
4. Khera, R., & Drèze, J. (2019). Aadhaar failures: A tragedy of errors. Economic and Political Weekly, 54(14). <https://www.epw.in/engage/article/aadhaar-failures-food-services-welfare>
5. Kumar, V. (2024, December 24). The algorithm of shame: How Instagram feeds India's skin-whitening obsession. BOOM. <https://www.boomlive.in/decode/skin-whitening-instagram-algorithm-children-30312>
6. Obermeyer, Z., Powers, B., Vogeli, C., & Mullainathan, S. (2019). Dissecting racial bias in an algorithm used to manage the health of populations. Science, 366(6464), 447–453. <https://doi.org/10.1126/science.aax2342>
7. Selvaraj, A., Radhin, V., Nithin, K. A., Benson, N., & Mathew, A. J. (2021). Effect of pandemic based online education on teaching and learning system. International Journal of Educational Development, 85, 102444. <https://doi.org/10.1016/j.ijedudev.2021.102444>
8. Yadav, A. (2024, December 22). Digital exclusion: Poor, elderly face the brunt of Aadhaar-based authentication errors. The Wire. <https://m.thewire.in/article/rights/digital-exclusion-poor-elderly-face-the-brunt-of-aadhaar-based-authentication-errors>

